

AV1-2

AV1-2 हिन्दी, Old Book, Edn 1995



आनन्द वचनामृतम्

V.1-2(H)

श्रीश्री आनन्दमूर्ति

AV1-2 हिन्दी, Old Book, Edn 1995

Scan AV 1 & 2 (H) 1995 Edn
(made from Hindi AV 1 - 3 book)

AV 1-2 हिन्दी, Old Book, Edn 1995

आनन्द-वचनामृतम्



श्रीश्रीआनन्दमूर्ति

AV 1-2 हिन्दी, Old Book, Edn 1995

आनन्द मार्ग प्रचारक संघ (केन्द्रीय) द्वारा सर्वस्वत्व संरक्षित है ।

— प्रकाशक —

आचार्य विजयानन्द अवधूत

(केन्द्रीय प्रकाशन सचिव)

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ (रजिस्टर्ड)

भि. आई. पी. नगर, तिलजला

कलकत्ता—७०० ०३९

प्रथम संस्करण—१४ मई, १९९५

: Photo Composed by :

श्री गणपति प्रेस

३६/डी, बेथुन रो,

कलकत्ता—७०० ००६

प्राप्तिस्थान :

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ

भि. आई. पी. नगर, तिलजला

कलकत्ता—७०० ०३९

ISBN-81-7252-094-8

Price : Rs. 50.00

AV 1-2 हिन्दी, Old Book, Edn 1995

चरम निर्देश

जो दोनों समय नियमितरूप से साधना करता है मृत्युकाल में परमपुरुष की भावना उसके मन में अवश्य ही जगेगी, एवं निश्चित रूप से उसकी मुक्ति होगी ही । अतः प्रत्येक आनन्दमार्गी को दोनों समय साधना करनी होगी—यही है परम पुरुष का निर्देश । यम-नियम के बिना साधना नहीं हो सकती । अतः यम-नियम का पालन करना भी परम पुरुष का ही निर्देश है । इस निर्देश की अवहेलना करने का अर्थ है कोटि-कोटि वर्षों तक पशुजीवन के क्लेश में दग्ध होना । किसी मनुष्य को उस क्लेश में दग्ध होना पड़े तथा परम पुरुष की स्नेहच्छाया में सभी आकर शाश्वती शान्ति लाभ करें ; इसलिए सभी मनुष्यों को आनन्द-मार्ग के कल्याण-पथ पर लाने की चेष्टा करना ही प्रत्येक आनन्दमार्गी का कर्तव्य है । दूसरों को सत्-पथ का निर्देश करना साधना का ही अङ्ग है ।

श्रीश्रीआनन्दमूर्ति

AV 1-2 हिन्दी, Old Book, Edn 1995

(प्रथम खण्ड)

प्रवचन	विषय	पृष्ठ
१.	वर्णमाहात्म्य	१
२.	“उचिष्ठत जाग्रत.....”	३
३.	उत्तम श्रेणी का मनुष्य बनो	४
४.	परम सूर्य	५
५.	परम पुरुष सर्वश्रय है	६
६.	आध्यात्मिक प्रगति के तीन सोपान	७
७.	भक्ति का सर्वोच्च स्तर	१०
८.	“मायामेतां तरन्ति ते”	१२
९.	परम पुरुष का और एक नाम हरि है	१४
१०.	“भवाम्बोधिपोतं शरणं ब्रजामः	१६
११.	वे ही सब कुछ हैं	१९
१२.	मन और इच्छाशक्ति	२२
१३.	बन्धनमुक्त होओ	२४
१४.	कृष्ण और राम	२६
१५.	मनुष्य निमित्तमात्र है	२८
१६.	गोपी कौन ?	३१
१७.	‘मदभक्ताः यत्र गायन्ति’	३३
१८.	परम सत्य की खोज	३६
१९.	तुम क्या चाहते हो ?	३८
२०.	स्वधर्म और परधर्म	४०
२१.	उत्तम, मध्यम और अधम	४२
२२.	विशुद्ध बुद्धि	४४
२३.	परम पुरुष का आविर्भाव	४६
२४.	आविर्भाव का क्या उद्देश्य है ?	४८
२५.	मानसिक भारसाम्य	५०

प्रवचन	विषय	पृष्ठ
२६.	अन्याय के पथ में अनेक झंझट	५२
२७.	सम्यक संकल्प	५४
२८.	पाहि मां नित्यम्	५७
२९.	गोप कौन हैं ?	५८
३०.	भक्ति	६०
३१.	सवितृ ऋक्	६४
३२.	चरम लक्ष्य	६९
३३.	एको हि रुद्रः	७१
३४.	देवादिदेव महादेव	७४
३५.	प्रणव-माहात्म्य	७८
३६.	साधना में क्रमोन्नति	८३
३७.	प्रतीकीकरण	८७

(द्वितीय खण्ड)

३८.	गुरुकृपा हि केवलम्	९१
३९.	भक्तों की महिमा	९४
४०.	भूमामानस की सर्वज्ञता	९७
४१.	परम पुरुष का स्वगत कथन	१००
४२.	प्रेम-अपरिहार्य प्राक्-आवश्यकता	१०३
४३.	ईश्वर के मौलिक लक्षण	१०६
४४.	मोक्ष और देहधारी जीव	११२
४५.	सर्वश्रेष्ठ जादूगर	११६
४६.	विश्वमाया से मुक्ति	११८
४७.	चितिशक्ति—सर्वोच्च तत्त्व	१२२
४८.	जीव शिव कैसे बनता है	१२६
४९.	सत्य का परमाश्रय	१२८

प्रवचन	विषय	पृष्ठ
५०.	‘शरणं ब्रजामः’	१३१
५१.	शक्ति और ज्ञातृसत्ता	१३४
५२.	मन और चितिशक्ति	१३७
५३.	प्रत्याहार योग और परमागति	१४०
५४.	राम और नारायण का तात्पर्य	१४३
५५.	कृष्ण-विश्व के प्राणकेन्द्र	१४७
५६.	साधुजनों की संगति	१५१
५७.	अणु और भूमा	१५६
५८.	चितिशक्ति की भूमिका	१५९
५९.	आगम और निगम	१६१

(तृतीय खण्ड)

६०.	क्या महिलायें मुक्ति पा सकेंगी ?	१६७
६१.	योग की तान्त्रिक परिभाषा	१७०
६२.	सफलता के सात गुप्त संकेत	१७४
६३.	गुरुपूजा	१७६
६४.	प्रणाम-मन्त्र	१८१
६५.	अणुजीव का जन्मसिद्ध अधिकार	१८५
६६.	भयानां भयं	१८८
६७.	अन्नं ब्रह्मेति	१९४
६८.	गुरु प्रणाम	१९७
६९.	सद्गुरुं त्वं नमामि	२००
७०.	‘संगच्छध्वं संवदध्वं’	२०५
७१.	साधक के लिए सर्वनिम्न योग्यता	२०९
७२.	नित्यम् शुद्धम्	२१४
७३.	सभी उनकी आज्ञा मानते हैं	२१८
७४.	जैसी करनी वैसी भरनी	२२१

प्रवचन	विषय	पृष्ठ
७५.	श्राद्ध	२२७
७६.	भूत-प्रेत	२३१
७७.	जीवात्मा और प्रत्यगात्मा	२३९
७८.	एको देवः	२४२
७९.	परम पुरुष का सर्वव्यापी प्रतिफलन	२४४

(अन्तर्गत पृष्ठ)

२२७	श्राद्ध का अर्थ और महत्त्व	२२७
२३१	भूत-प्रेत का अर्थ और महत्त्व	२३१
२३९	जीवात्मा और प्रत्यगात्मा का अर्थ और महत्त्व	२३९
२४२	एको देवः का अर्थ और महत्त्व	२४२
२४४	परम पुरुष का सर्वव्यापी प्रतिफलन	२४४

प्रवचन - १

वर्णमाहात्म्य

यह महाविश्व अजस्र स्पन्दन का समाहार है। यह जो परिदृश्यमान जगत् है, जिसे साधारण रूप से प्रपञ्च नाम से अभिहित करते हैं, वह मूलतः मानस जगत् और अतिमानस जगत् के अधिक्षेत्रभुक्त है। यह स्पन्दनराशि संख्या में असंख्य अनगिनत है, किन्तु अनन्त नहीं है। यदि वे अनन्त होते तो सृष्टि अनन्त होती। तब हाँ, तरङ्गराशियों की संख्या अजस्र अनगिनत है। किन्तु वे किसी तरह से अनन्त नहीं हैं।

मूलतः तीन ही रंग या वर्ण प्रधान हैं—श्वेत वर्ण, रक्त वर्ण और कृष्ण वर्ण। श्वेत वर्ण है सत्त्व गुण का द्योतक। रक्त वर्ण रजोगुण का द्योतक है तथा कृष्णवर्ण तमोगुण का द्योतक है। एक अद्वितीय परम पुरुष ही इन असंख्य वर्णों का सर्जन करते हैं। और इस रंग या वर्ण की सहायता से, वे सभी को अपनी ओर आकर्षित करते चलते हैं। यदि आकर्षण नहीं रहता, तब यह सृष्ट जीवजगत् उनके आस्तित्विक माधुर्य का उपभोग नहीं कर पाता।

“य एकोऽवर्णो बहुधाशक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।

विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥”

जिन एक सत्ता से अनेकों की उद्भूति हुई है, उस एक को कहेंगे आदि कारण या मूल कारण (noumenal) और यह व्यक्त जगत् है प्रापञ्चिक (phenomenal)।

अब प्रश्न उठता है कि इस वर्णमय विश्व सृष्टि के पीछे कारण क्या है? उत्तर में कहूँगा—इस वर्णमय विसृष्टि के नहीं रहने से पार्थिव मनुष्य कुछ भी उपभोग नहीं कर सकता था, और फलस्वरूप इस सृष्टि के वक्ष पर वह बच नहीं सकता था। जैसे, मानो एक छोटा शिशु रोता है। उसकी माँ उसे

खिलौना देती है, जिससे शिशु वह खिलौना लेकर भूला रहे। इस खिलौना को तैयार करने के लिए ही सम्पूर्ण वर्णों की सृष्टि की गई है। किन्तु उद्देश्य क्या है ? इस वर्ण सृष्टि के पीछे असल कारण क्या है ? इसके पीछे जो उद्देश्य है, जो कारण है, वह एकमात्र परम पुरुष ही जानते हैं। यदि वह उद्देश्य प्रकाशित कर दिया जाए, तब तो भीतर का गुप्त रहस्य ही उद्घाटित हो जायेगा। फिर, इसके पीछे अन्तर्निहित भाव क्या है ? अभी असल कारण यदि एक बार जाना जाय, तब तो जीव वर्ण के आकर्षण से मुक्त होने की चेष्टा करेगा। तब सृष्टि के पीछे वर्णराशि को लेकर वह कैसे मत्त रहने की चेष्टा नहीं करेगा।

इन अजस्र स्पान्दनिक अभिव्यक्ति की बात जो मैंने की थी, वे सभी परम पुरुष में ही समाहित होकर रहते हैं। उन्हीं परम पुरुष से उत्सारित होकर फिर उन्हीं में समाहित होते हैं। हमलोग यदि इस तरङ्गसमुद्र का आदि-अन्त खोजने की चेष्टा करें, तब उन्हीं एक परम पुरुष को ही पायेंगे अर्थात् वही एक परम पुरुष ही सृष्टि के आदि में भी हैं और अन्त में भी हैं। इसलिए हम सबों की एकमात्र प्रार्थना होनी उचित है—“स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु”—वे हमलोगों की बुद्धि को शुभ के साथ संयुक्त करके रखें।

(पटना, ५ अगस्त, १९७८)

प्रवचन - २

“उत्तिष्ठत जाग्रत.....”

“उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम् पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥”

कहा गया है, परमा सम्प्राप्ति का पथ है छुरे की धार के समान। धर्म के पथ से चलने का अर्थ ही है शाणित छुरे के ऊपर होकर चलना। प्राकृत जनगण बोल सकते हैं, वे लोग अत्यन्त साधारण अज्ञ मनुष्य हैं...उन्हें बुद्धि-शुद्धि नहीं है, फिर वे इस शाणित छुरे की धार पर कैसे चलेंगे ? किन्तु उन्हें भी तो यह जानने की इच्छा जगती है—उस परमा सम्प्राप्ति का उपाय क्या है ? उत्तर में कहेंगे, उपाय है भक्ति।

इसीलिए कहता हूँ—भक्ति के साथ, निष्ठा के साथ काम करते जाओ, भक्ति के ही पथ से बढ़ चलो...याद रखो, जहाँ भक्ति है वहीं परमात्मा है। जो ज्ञानी हैं, तार्किक हैं उनके लिए धर्म का पथ है छुरे की धार के तुल्य, किन्तु जो साधक हैं, जो भक्त हैं उनके लिए वह पथ कुसुमास्तीर्ण है। जब भक्ति के द्वारा ही परम पुरुष लभ्य हैं, तब भक्तिमान साधक परम पुरुष को प्राप्त करेगा ही। तुमलोग साधक हो, तुमलोग भक्ति के पथ पर चल रहे हो, जय तुम्हारी होगी ही।

(पटना, ६ अगस्त, १९७८)

उत्तम श्रेणी का मनुष्य बनो

इस जगत् में प्रधानतः तीन प्रकार का मनुष्य देखोगे- उत्तम, मध्यम और अधम । प्रथम श्रेणी का मनुष्य उन्हें कहेंगे जिनके चिन्तन, वचन और कर्म में समानता है । अर्थात् वे जैसा सोचते हैं, वैसा ही बोलते हैं और जैसा बोलते हैं वैसा ही कार्य करते हैं । ये हैं उत्तम श्रेणी के मनुष्य ।

द्वितीय श्रेणी के मनुष्य वे हैं जिनके चिन्तन और बोली में समानता नहीं है । वे मुख से जो बोलते हैं वे वैसा ही कार्य नहीं करते हैं अर्थात् वे मनमें सोचते हैं कुछ और मुख से बोलते हैं और कुछ । परन्तु मुख से जो बोलते हैं कार्य तदनुरूप करते हैं । ये हैं मध्यम कोटि के मनुष्य ।

और तृतीय कोटि के मनुष्य उन्हें कहेंगे जिनके चिन्तन, वचन और कर्म में कोई समानता नहीं होती, कोई सामञ्जस्य नहीं होता । इस प्रकार के लोग मन ही मन एक प्रकार से सोचते हैं, मुखसे और दूसरे प्रकार से बोलते हैं और कार्य के समय ठीक उल्टा करते हैं । ये हैं अधम श्रेणी के लोग ।

वर्तमान समय में पृथ्वी पर अधिकांश नेता इस अधम श्रेणी के हैं । किन्तु तुमलोग, उत्तम श्रेणी का मनुष्य बनने की चेष्टा करो । अर्थात् तुमलोग जैसा सोचोगे, वैसा ही बोलोगे और जैसा मुख से बोलोगे, वैसा ही कार्य भी करोगे ।

(पटना, ७ अगस्त, १९७८)

परम सूर्य

मनुष्य मात्र ही सूर्यालोक की सहायता से देख पाते हैं । कह सकते हैं, सूर्य है मनुष्य का चक्षुस्वरूप । किन्तु आँख में त्रुटि रहने से मनुष्य देख नहीं पाता है ।

परमात्मा हैं विश्व की सभी आत्मा की आत्मा । परमात्मा से ही मनुष्य उनकी शक्ति प्राप्त करता है । इस विश्व की किसी चीज का मालिक मनुष्य नहीं है । मालिक हैं परमात्मा, क्योंकि सब कुछ उन्हीं से उद्भूत होता है, शेष पर्यन्त उन्हीं में मिल जाता है । तुम चेष्टा करके भी मौलिक कुछ भी सृष्टि नहीं कर सकते, क्योंकि सब कुछ उन्हीं से उद्भूत हुआ है । यदि तुम किसी वस्तु का अपव्यवहार करो, तो उसके लिए परमात्मा को जबाबदेह नहीं बना सकते । इसके लिए तुम्हीं जबाबदेह हो, इसके लिए तुम्हें ही दण्ड मिलेगा, इसके लिए तुम्हें ही फलभोग करना होगा ।

वही परम पुरुष तुम्हारे परम मित्र हैं । किसी भी अवस्था में तुम अकेले नहीं हो । तुम्हारे त्याग को देखकर वे कभी निरपेक्ष या उदासीन नहीं रह सकते । इसलिए उनके इच्छानुकूल बड़े चलो, उसी से तुम्हारे समस्त दुःख-कष्ट का अवसान होगा ।

(पटना, ८ अगस्त, १९७८)

परम पुरुष सर्वाश्रय हैं

“अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
सोऽपि पापविनिर्मुक्तो मुच्यते भवबन्धनात् ॥”

दुराचारी उसी को कहते हैं जिसके कार्य से समाज पर दुष्प्रभाव पड़ता है, क्षतिग्रस्त होता है, जिसका आचरण समाज के लिए क्षतिकारक है। और जो दुराचारी लोग दुराचारियों के समाज में जिसे दुराचारी कहते हैं, वह है सुदुराचारी। शास्त्र में कहा गया है, तर्कशास्त्र में भी कहा गया है, जैसा कर्म होता है वैसा ही उसका प्रतिकर्म भी होता है। फिर भी, स्थान, काल, पात्र के परिवर्तन होने से प्रतिकर्म में भी कमी-बेसी तारतम्य होता है।

तब क्या किसी सुदुराचारी का कोई भविष्य नहीं है? नहीं, वैसा नहीं हो सकता। अति महान पापी का भी एक भविष्य है। अब देखो, मनुष्य मात्र भूल करता है। वह भूल बड़ी भी हो सकती है, या छोटी भी हो सकती है। जो भूल करते हैं वे भी तो हमारे समाजभुक्त मनुष्य हैं, वे कहाँ जायेंगे? इसलिए भगवान् कृष्ण ने कहा है—सब छोड़-छाड़ कर कोई सुदुराचारी यदि मेरा आश्रय लेता है, वह यदि अनन्यमनसा होकर मेरी भजना करता है, तब उसका सम्पूर्ण संस्कार बन्धन खतम हो जायेगा, वह समस्त कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त करेगा। जो अनन्यमना होकर मेरा भजन करता है, मेरा आश्रय लेता है, वह मुक्ति अवश्य ही पायेगा।

मनुष्य ! याद रखो, परम पुरुष तुम्हारे सब से अधिक घनिष्ठ बन्धु हैं। किसी भी अवस्था में तुम अकेले नहीं हो। परम पुरुष कभी भी तुम्हारे दुःख-विपद में उदासीन नहीं रह सकते। वे सब समय तुम्हारी व्यथा-वेदना अनुभव करते हैं। उनके निर्देशन के अनुसार कर्म करते जाओ, और उसीसे सम्पूर्ण कष्ट-यन्त्रणा से परित्राण पाओगे।

(पटना, ९ अगस्त, १९७८)

आध्यात्मिक प्रगति के तीन सोपान

“प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया” —आध्यात्मिक प्रगति तीन तत्वों के ऊपर निर्भरशील है—प्रणिपात, परिप्रश्न तथा सेवा। प्रणिपात का माने है एक अद्वितीय शाश्वत सत्ता परम पुरुष के प्रति पूर्ण आत्मसर्पण। इस दिशा में साधक का मनोभाव होता है कि विश्व का जो कुछ है, सभी परम पुरुष का है। हमारा कुछ नहीं है। यही है प्रणिपात। जिसे अहंकार है, जो सोचता है, विद्या-बुद्धि, धन-सम्पत्ति या अन्यान्य वस्तुएँ उसकी वैयष्टिक सम्पत्ति है वह सबसे बड़ा मूर्ख है।

कोई कोई मनुष्य अपनी शिक्षा-दीक्षा, विद्या-बुद्धि, सौभाग्य को लेकर खूब प्रशंसा करते हैं, किन्तु इस पृथ्वी की कोई चीज तो चिरन्तन नहीं है। इसलिए जो मनुष्य किसी पार्थिव चीज को लेकर प्रशंसा करता है वह मूर्ख है। सबसे खराब मानसिक बन्धन है मिथ्या अहंकार, क्योंकि इस विश्व का सब कुछ परम पुरुष का है, ‘मेरा’ कहकर कुछ नहीं है। इसलिए परम पुरुष के पास मनुष्य को सोलह आना आत्मसमर्पण करना उचित है। मानसिक अग्रगति के लिए यह है एक अपरिहार्य शर्त। यदि सही रूप में जगत की सेवा करना चाहते हो, तब परम पुरुष के पादमूल में समर्पण करना ही होगा। अर्थात् उसी शाश्वत सत्ता परम पुरुष के पास नम्रता से न्योछावर स्वीकार करना ही है प्रणिपात।

इस सृष्ट जगत् के वास्तविक मालिक हैं परमपुरुष। यहाँ जो भी कर्मधारा है वह सब उनकी है। हमलोग सब उन परम पुरुष के माध्यम मात्र हैं। मुझे जिस कार्य का दायित्व दिया गया है वह कार्य न करें तो वे इस कार्य को दूसरे को देकर करा लेंगे। इसलिए किसी कार्य को करने के पहले अवश्य

ही यह भावना लेनी होगी कि परम पुरुष कृपा कर मेरे माध्यम से वह कार्य करा लें ।

जीवित काल में षाँड़ को देखोगे कि बीच बीच में वह गर्जन कर बोलता है 'हमा' अर्थात् मैं...मैं...मैं किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसके ही चमड़े से सूक्ष्म ताँत से तैयार धनुषी से आवाज निकलती है केवल तू...तू...तू (तुम, तुम, तुम) । इसलिए सर्वदा याद रखना होगा, मैं कुछ नहीं करता हूँ, स्वयं परम पुरुष ही सब कुछ करते चल रहे हैं । और ये सब करने के समय व्यष्टि सत्ता के विचार से मनुष्य को मायाजाल में जड़ित होना उचित नहीं है । किसी की क्षमता, प्रतिपत्ति, पदमर्यादा, सौन्दर्य, सम्मान, वित्त, अर्जित ज्ञान, किसी चीज को लेकर अहंकार करना उचित नहीं है । सर्वदा याद रखना होगा हम सब के मालिक हैं परम पुरुष, हमारा कुछ नहीं है ।

परिप्रश्न कहने से उन्हीं सभी प्रश्नों को समझा जाता है जिसका उत्तर मनुष्य जानकर आध्यात्मिक उन्नति लाभ करता है । पाण्डित्य प्रकट करना या प्रश्न के लिए प्रश्न करने से मनुष्य का समय और शक्ति का बेकार अपचय होता है । ये सब एकदम बेकार की चीजें हैं । परिप्रश्न को छोड़कर अन्य किसी प्रश्न का रहना भी उचित नहीं है । परिप्रश्न के व्यतिरेक अन्य कोई प्रश्न करने से मनुष्य का सिर्फ समय और शक्ति का अपचय होता है ।

सेवा माने निःस्वार्थ सेवा । यथार्थ सेवा वहीं संभव है, जहाँ प्रतिदान में कुछ भी पाने की अभिलाषा न रहे । जहाँ कुछ देने पर कुछ पाने की वासना रहे, उसे सेवा नहीं कहेंगे, उसे व्यवसाय कहेंगे । जहाँ लेन-देन का प्रश्न रहे उसे व्यवसाय कहते हैं । बहुत समय अनेक समाचारपत्र के स्तम्भ में व्यवसाय प्रतिष्ठान का विज्ञापन दृष्टिगोचर होता है—“अमुक साल से आप लोगों की सेवा में नियोजित ” । नहीं, यह सेवा नहीं है, यह व्यवसाय है, क्योंकि इस क्षेत्र में विक्रेता बिना कुछ लिए कुछ देता नहीं है । सेवा के क्षेत्र में देना ही बड़ी बात है, लेने का प्रश्न ही नहीं उठता है । यदि कोई कुछ दान करता है और मन में सोचता है कि प्रतिदान में कुछ देने पर भी नहीं लूंगा,

यही है सेवा की सार बात ।

एक शब्द है जो प्रायः भक्तलोग बोलते हैं, वह है प्रपत्ति । प्रपत्ति माने सम्पूर्ण आत्मसमर्पण । अर्थात् भाव यह है कि वही चरम दैवी सत्ता परमात्मा ही सब कुछ करते हैं, मनुष्य कुछ करता नहीं है, परम पुरुष की इच्छा से ही सब कुछ होता है । पक्षान्तर में 'अप्रपत्ति' माने उस प्रकार की मानसिकता जहाँ मनुष्य सोचता है कि व्यष्टि मनुष्य ही सब कुछ करता है, परम पुरुष कुछ नहीं करते हैं ।

प्रणिपात, परिप्रश्न, सेवा तीन तत्व को मनुष्य मानकर चले तो मनुष्य की अग्रगति होगी ही । इसके अलावे अन्य कुछ भी तुम्हारा उपकार नहीं करेगा । याद रखो, अति अल्प काल के लिए तुम इस पृथ्वी पर आये हो । इसलिए तुम अपने समय और सुयोग का पूर्ण रूप से सद्व्यवहार करो, मनसे यथार्थ सेवा का मनोभाव पोषण करो, जगत की सेवा करते जाओ ; जागतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन के सभी स्तरों में सर्वात्मिक सेवा का कार्य चलाते जाओ ।

(पटना, १० अगस्त, १९७८)

भक्ति का सर्वोच्च स्तर

मैं परम पुरुष का दासानुदास हूँ, वे अपना कार्य स्वयं करते हैं, मैं उनके हाथ में यन्त्र मात्र हूँ, इस मानसिकता को 'प्रपत्ति' कहते हैं। प्रपत्ति की व्युत्पत्ति है— प्र + पत् + क्तिन् = प्रपत्ति। प्रपत्ति भाव से साधक दुःख को दुःख, सुख को सुख कहकर नहीं मानते ; वस्तुतः सुख-दुःख को वे प्रसन्नचित्त से ग्रहण करते हैं।

इस प्रपत्ति मानसिकता के विपरीत दिशा में है विप्रपत्ति। विप्रपत्ति में मनुष्य भूल करके सोचता है कि वह सब कुछ करता है—दूसरा कोई नहीं, वही सब कुछ करता है। इस प्रकार की त्रुटिपूर्ण मानसिकता के फलस्वरूप क्रमशः वह स्थूल भावापन्न होता है। प्रपत्ति के समय मन का भाव ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी ही इच्छा से सब कुछ होते चल रहा है। वे अनुकम्पा करके मुझे अपने यन्त्र के रूप में व्यवहार कर रहे हैं। यदि चाहें तो मुझे अपने यन्त्र के रूप में व्यवहार नहीं भी कर सकते हैं। वे मेरे द्वारा कार्य कराये या न कराये, वे जैसा चाहेंगे वैसा ही होगा— प्रपत्ति-भाव के साधक के मन में मुख्यतः इसी प्रकार की भावना रहती है। प्रपत्ति का पूरा आनन्द लेने के लिए मनुष्य को परम पुरुष के चरण में सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण करना होगा।

वैष्णव मतवाद और सूफी मतवाद सम्पूर्णतः इसी प्रपत्ति भाव के ऊपर आधारित है। इस प्रपत्ति भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति इस गान में घटित हुई है :

“ सकलि तोमार इच्छा इच्छामयी तारा तुमि,
तोमार कर्म तुमि कर मा, लोके बोले करि आमि ।
पङ्के बद्ध कर करी, पङ्कुरे लङ्घाओ गिरि ।
कारे दाओ मा ब्रह्मपद, कारे कर अधोगामी ।
आमि यन्त्र, तुमि यन्त्री, आमि घर तुमि घरणी,
आमि रथ तुमि रथी मा, येमन चालाओ तेमनि चलि ।”

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार करने पर प्रपत्ति के सिवाय और कुछ नहीं है। संक्षेप में कहने पर प्रपत्तिवाद का विश्वासी साधक कभी भी कोई असत् या अशुभ कर्म में रत नहीं हो सकता।

जड़वाद स्थित है विप्रपत्ति के ऊपर। इसलिए जड़वाद में केवल दुःख ही दुःख है। इसलिए जो मनुष्य जड़वाद में विश्वासी है, उसका विश्वास करना कठिन है। प्रपत्तिवादी का स्पष्ट वक्तव्य है—

“ मन गरीबेर की दोष आछे,
तुमि जादुगरेर मेये श्यामा,
येमन नाचाओ तेमनि नाचे ।”

जो पूर्ण आत्मसमर्पण कर पाये हैं, केवल वे ही प्रपत्तिवाद के सम्बन्ध में कुछ बोल सकते हैं। चिन्तन, आचरण या कर्म में मनुष्य को परिच्छिन्न स्वभाव का होना ही होगा, वह जो कुछ बोलेगा या करेगा, वह स्पष्ट ही बोलेगा या करेगा। जीवन के किसी क्षेत्र में उसमें अन्दर कुछ, बाहर कुछ, ऐसा नहीं होगा। जीवन धारा यद्यपि संकोच-विकाशी है, किन्तु मनुष्य को जीवन में होना होगा सहज और सरल। सत्ता विशेष की गति यद्यपि संकोच-विकाशी है, किन्तु उस गतिशील सत्ता को सहज-सरल होना होगा।

“ नाहं मन्ये सुवेदेति न वेदेति वेद च ।

य नस्तद वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥”

मैं यह नहीं कहता हूँ कि मैं उस परम सत्ता को जानता हूँ। और यह भी नहीं बोलता हूँ कि मैं परम सत्ता को नहीं जानता हूँ ; क्योंकि वे परम सत्ता है जानने, नहीं जानने के बाहर के तत्त्व। प्रपत्तिवाद की मूल बात है—“ मैं हूँ, तुम भी हो और तुम मेरे ही हो”, और प्रपत्तिवाद की अन्तिम बात है—“ तुम हो प्रभु, केवल तुम्हीं हो ” ॥

“ मैं हूँ ” नहीं रहने से प्रपत्तिवाद का आरम्भ ही नहीं होता है। इसलिए प्रारम्भ में प्रपत्तिवाद के रहने से “अहं अस्मि” अर्थात् “मैं हूँ” को मान ही लेना होगा। किन्तु शेष पर्यन्त रहता है—“त्वम् असि”, “त्वं हि” अर्थात् “तुम हो”, “हाँ केवल तुम्हीं हो”।

(पटना, १६ अगस्त, १९७८)

“मायामेतां तरन्ति ते”

“दैवी होषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥”

यह दैवी माया या परा माया या परा शक्ति है त्रिगुणात्मिका । इस माया को अतिक्रम करना अत्यन्त कठिन है । यह एक वास्तविक सत्य है ।

अब, प्रश्न है माया कौन है या क्या है ? श्लोक में कहा गया है — यह माया मेरी है । अर्थात् यह माया है परम पुरुष की माया । इसलिए यह माया सम्पूर्णतः परम पुरुष की आश्रिता है । उनकी इच्छा के व्यतिरेक यह माया शक्ति कोई कार्य कर नहीं सकती । ‘आनन्दसूत्रम्’ में कहा गया है “शक्तिः सा शिवस्य शक्तिः” । शक्ति कोई स्वाधीन सत्ता नहीं है । वह परमपुरुष की आश्रिता शक्ति है । परमपुरुष की सृष्ट माया ही है “भवसागर” । क्योंकि माया परम पुरुष की अधीना है, इसलिए जो उनका आश्रय लेते हैं, केवल वे ही दुस्तर माया-समुद्र का अतिक्रमण कर सकते हैं । प्राकृत जीव इस माया से भय पा सकते हैं । किन्तु जो प्रकृत साधक है, वह भय क्यों करेगा ? वस्तुतः साधक कभी भी माया से भय प्राप्त नहीं करेंगे । क्योंकि वे तो परम पुरुष से प्यार करते हैं । इसलिए यदि परम पुरुष मायाधीश हों, और साधक को उन्हीं मायाधीश परम पुरुष के प्रति अकृत्रिम प्रेम है, तो वह माया से डरेगा क्यों ? इसलिए कोई ज्ञानी माया से भय पा सकते हैं, किन्तु जो भक्त हैं वे कभी भी माया से भयभीत नहीं होंगे ।

कहानी है एक ज्ञानी तथा एक भक्त एकबार एक आम के बगीचा में गये । ज्ञानी क्या करेंगे, वे आम के बगीचे में कितने आम के पेड़ हैं गिनना शुरू कर देंगे । किन्तु जो भक्त है, वह आम के बगीचे के आमगाछ से पका आम तोड़ कर खाना शुरू कर देगा । ज्ञानी तक्र या मट्टा को लेकर लम्बी चौड़ी आलोचना शुरू कर देगा । किन्तु जो भक्त है, वह क्रीम या सारांश

को खाना शुरू कर देगा, अन्त में देखा जायेगा ज्ञानी अपनी वास्तविक बुद्धिहीनता के कारण अनुताप कर रहा है । किन्तु जो भक्त है, वह सही रूप में आनन्द उपभोग कर रहा है । भक्त सब समय बुद्धिमत्ता से काम करता है । ज्ञानी करता है धर्मशास्त्र वा तर्क शास्त्र की हजार समस्याओं को लेकर माथापच्ची किन्तु भक्त धर्मशास्त्र का सारांश आत्मसात् करता है । भक्त समझ बूझकर भगवान की शरण लेता है । यदि मानो कि परम पुरुष एक जहाज हैं, एक बड़ा जहाज हैं, भक्त क्या करता है ? वह उस जहाज के ऊपर बैठ कर निश्चिन्त इस भवसागर से पार हो जाता है ।

(पटना, १२ अगस्त, १९७८)

परम पुरुष का और एक नाम हरि है

परम पुरुष के अनेक नामों में एक नाम 'हरि' है। हरि माने जो हरण करता है। हरण करने का माने चोरी करना है। परम पुरुष चोरी करते हैं- यह कैसी बात है? हाँ, बात तो ठीक ही है, चोरी वे ठीक ही करते हैं, वे भक्त का पाप हरण करते हैं। तुमलोग निश्चित रूप से जानते हो कि प्रत्येक कर्म का प्रतिकर्म होता है। स्थान-काल-पात्र में यदि कोई परिवर्तन न हो तो कर्म और प्रतिकर्म समान होता है। मानो, एक मनुष्य बहुत पाप कर्म किया है। उसे यदि समस्त पाप का फल भोगना पड़े, उससे उसका हो सकता है बीस पच्चीस जन्म लग जाय।

इसलिए जो पापी हैं, उसका क्या कोई भविष्य नहीं है? वह केवल अपने कर्म का प्रतिकर्म भोगने के लिए इस पृथ्वी पर बार बार आता रहेगा? तथाकथित सभ्यता का जितना विकास हुआ है उतनी ही मानसिक अवनति हुई है... मनुष्य का मानसिक अधःपतन हो रहा है और दुष्कृति की संख्या बढ़ती जा रही है। तब क्या दुष्कृति करने वालों का कोई भविष्य नहीं है? यदि समस्त कर्मों का सम्पूर्ण फल भोग करना हो तो मनुष्य मुक्ति-मोक्ष तो कभी किसी काल में प्राप्त करेगा ही नहीं। फिर, यह बात भी ठीक ही है कि मनुष्य कितना बड़ा ही अपराधी क्यों न हो, उसका एक भविष्य अवश्य है। जो उनकी शरण में जायेगा, परमपुरुष अवश्य ही उसके लिए कुछ करेंगे।

परम पुरुष के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे स्वर्ग और नरक दोनों के अधीश्वर हैं। जो नरक में हैं वे भी परम पुरुष के साथ हैं। वे भी परम पुरुष की सन्तान सन्तति हैं। उन्हें स्नेह-प्रेम दशानि के लिए परम पुरुष को उनके साथ नरक में ही रहना पड़ेगा। तब परम पुरुष क्या करेंगे? उनके

परित्राण के लिये परम पुरुष अपने स्कन्ध पर उनके पाप के बोझ उठा लेते हैं।

जो सही भक्त हैं वे कभी परम पुरुष को अपने पाप का बोझ देना नहीं चाहते। वरन् वे परम पुरुष को फूल-फल-मिष्ठान्न इत्यादि देना चाहते हैं।

अब, भक्त भगवान के अत्यन्त प्रिय हैं, इसलिए वे उनकी अनुमति के बिना ही उनके पाप के बोझ को ले लेते हैं। लौकिक भाषा में बिना अनुमति के दूसरे की वस्तु को ले लेने को चोरी करना कहते हैं कहते हैं हरण करना। उस विचार से परम पुरुष को हरि कहा जाता है। कारण तुमलोग उन्हीं हरि के शरणागत हो, इसलिए अन्यथा भावना-चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है। यदि नरक में भी जाओ, देखोगे परम पुरुष वहाँ भी तुम्हारे साथ हैं।

(पटना, १३ अगस्त, १९७८)

“भवाम्बोधिपोत शरणं व्रजामः”

मनुष्य का मन निर्विषय नहीं रह सकता क्योंकि मन को एक विषय लेकर रहना ही होगा, इसलिए विषय रहित अवस्था में मन कार्य करना बन्द कर देता है। इसलिए मन को एक विषय रहना चाहिए। मात्र परम पुरुष को ही मनका विषय बना लेना। मन को इसलिए एक निर्दिष्ट स्थान में स्थिरकर बिठाना होगा और इस स्थिरीकृत मनको विन्दुस्थ होना होगा, क्योंकि वही विन्दुस्थ मन परम सत्ता में विलीन हो सकता है।

“तदेकं जपामः तदेकं स्मरामः ।” ‘जप’ माने किसी वस्तु की पुनःपुनः आवृत्ति। यदि किसी शब्द की पुनःपुनः आवृत्ति करना ही हो, तो उन्हीं परम पुरुष का नाम ही (अर्थात् अपना इष्ट मन्त्र) जप करना ही उचित है। अन्य कुछ भी जप नहीं करना। प्रसङ्गतः उल्लेख्य है कि ‘जप’ तीन तरह का है। एक का नाम है मानसिक जप अर्थात् जब तुम मन ही मन जप कर रहे हो, तब तुम्हारे इस मानसिक जपक्रिया के एकमात्र श्रोता तुम्हीं हो। द्वितीय प्रकार का जप है उपांशु जप, जिस जप के करने में दोनों ओठ थोड़ा अलग होता है और बन्द होता है। उसके भी श्रोता तुम्हीं हो। और तृतीय प्रकार का जप है वाचनिक जप अर्थात् तुम अपने वाक् यन्त्र के सहारे ध्वनि करते हो। यही वाचनिक जप हुआ सबसे निकृष्ट प्रकार का जप और सर्वोत्कृष्ट जप है मानसिक जप।

“तदेकं जपामः तदेकं स्मरामः तदेकं जगत्साक्षीरूपं नमामः ।”

‘नमः’ माने अन्य किसी सत्ता का प्राधान्य या सार्वभौमत्व मान लेना। इसी प्राधान्य का मान लेना है ‘नमः’। मनुष्य को परम पुरुष के पास आत्मसमर्पण करना ही होगा। उसे उनका प्रभुत्व स्वीकार कर ही लेना होगा। प्रश्न है

किसका प्रभुत्व ? हाँ, परम पुरुष का ही प्रभुत्व। यह परम सत्ता कौन है ? ‘जगत्साक्षीरूपम्’। यह आधिपत्य है उन्हीं परम सत्ता का जो अखिल विश्व के चरम साक्षी सत्ता हैं। जो विश्व का सब कुछ देखते चल रहे हैं। इस परम साक्षी सत्ता के सामने मनुष्य को आत्म निवेदन करना ही होगा, केवल उन्हीं को नमस्कार करना होगा।

‘जगत्साक्षीरूपम्’। इस विश्व को संस्कृत में ‘जगत्’ कहते हैं। ‘गम्’ धातु का अर्थ है चलना। इस विश्वब्रह्माण्ड की कोई सत्ता स्थिर नहीं है, कोई गतिहीन नहीं है। सब चल रहे हैं। इसलिए विश्व को कहते हैं ‘जगत्’। चलमानता ही है इसका धर्म, आगे बढ़ना इसका विशेष वैशिष्ट्य है।

“तदेकं निधानं निरालम्बमीशम् भवाम्बोधिपोतं शरणं व्रजामः ॥”

इस विश्व की सभी चीजों का एक अन्तविन्दु है ... एक गन्तव्य स्थल अवश्य ही है। ऐसे ही समस्त क्रियाकलाप के चरम तथा परम शेष विन्दु है परम पुरुष। परम पुरुष ही एकमात्र सत्ता है जो किसी सत्ता के ऊपर निर्भरशील नहीं है। इसलिए भक्त कहते हैं कि तुम सभी सत्ताओं के आश्रयस्वरूप हो। तुम्हीं एकमात्र सत्ता हो जिन्हें अपने सत्तागत अस्तित्व की रक्षा के लिए किसी आश्रय का प्रयोजन नहीं है।

मैंने एक बार तुमलोगों को कहा था कि इस पटना शहर का आश्रय है पटना जिला और पटना जिले का आश्रय विहार प्रदेश है, विहार प्रदेश है भारतवर्ष में और भारतवर्ष एशिया महादेश में है और एशिया महादेश है इस पृथ्वी ग्रह पर और यह पृथ्वी ग्रह है सौर मण्डल के अन्तर्गत और सौर मण्डल है परम पुरुष के अन्तर्गत। इसलिए परम पुरुष हैं सर्वश्रिय, उनका कोई आश्रय नहीं है। वे किसी अन्य आश्रय के ऊपर निर्भरशील नहीं हैं। किसी द्वितीय सत्ता के अस्तित्व के ऊपर उनका अस्तित्व निर्भर नहीं करता है।

मनुष्य को बारबार पृथ्वी पर आना पड़ता है । हो सकता है मानव शरीर में, नहीं तो किसी जीवजन्तु का ही शरीर धारण कर । प्रतिकर्म या अभुक्त संस्कार का दूसरा नाम है 'भव' । मानव या किसी अन्य सत्ता में नाना प्रकार के संवेग रहते हैं, जिनके क्षय के लिए मनुष्य को बारबार जन्म लेना पड़ता है । अब प्रश्न उठता है- इस भवसमुद्र को अतिक्रम करने का क्या उपाय है ? कहा जाता है- भवसागर अनतिक्रम्य है । तुम्हारे हाथ-पाँव में इतनी शक्ति या सामर्थ्य नहीं है, जिससे इस दुस्तर भवसागर को अतिक्रम कर सके । इसलिए अच्छा होगा यदि अच्छे प्रकार की एक नौका या छीमर की सहायता पा जाओ, जिस पर चढ़ कर तुम महासागर को पार कर जाओ । 'हे परम पुरुष ! तुम्हीं वह जहाज हो । मैं इस जहाज पर आश्रय लिया । मैं इस जहाज पर चढ़ कर भवसमुद्र पार करूँगा । समुद्र के दूसरे किनारे पारकर पहुँच जाऊँगा ; तुम्हारी कृपा से मैं ऐसा करने में सक्षम होऊँगा । मैंने तुम्हारी शरण ली' । भवाम्बोधिपोतं शरणं ब्रजामः ॥

(पटना, १४ अगस्त, १९७८)

प्रवचन - ११

वे ही सब कुछ हैं

“सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादः ।

स भूमिर्विश्वतो वृत्त्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥”

इस श्लोक में परम पुरुष या भूमाचैतन्य के गुणराशि की व्याख्या की गयी है । हमलोग जानते हैं कि सृष्टिधारा में भूमामन की उदभूति हुई है । इस भूमामन में अजस्र तरंग हैं और हैं विराट मानस सामर्थ्य । उसी तरह सृष्टिधारा के परवर्ती चरणों में जब अणुमन की सृष्टि हुई, तब उसमें आया मानस प्रवाह । भूमामन अवश्य ही असीम अनन्त है । समस्त सृष्टि जगत् में उन्हीं का साम्राज्य है । वे हैं एकच्छत्र अधिपति । अणुमन के पक्ष में भूमामन के सर्वाधिपत्य की प्रतिस्पर्धा करना सचमुच असम्भव है ; क्योंकि सभी अणुमन तो परम पुरुष के विराट मन में ही हैं । भूमा मन के विशाल अधिक्षेत्र में सबों की अवस्थिति है । वस्तुतः यह समय विश्व ब्रह्माण्ड है भूमामन का कल्पनासञ्जात । अणुमन जो कुछ करता है, जो कुछ चिन्तन करता है, परम पुरुष उसी समय वह जान जाते हैं ; क्योंकि सब कर्मगत अभिव्यक्ति ही उन भूमामन के अभ्यन्तर से होकर चलती है ।

मनुष्य के एक छोटे क्रैनियम में है एक छोटा मस्तिष्क । इसलिए तुम्हारा मानसिक सामर्थ्य बहुत सीमित है । परम पुरुष को मस्तिष्क की आवश्यकता नहीं होती है ; क्योंकि उनके पक्ष में सब कुछ आभ्यन्तरीण है । तुम अपने छोटे मस्तिष्क के द्वारा सोच-विचार करते हो और परम पुरुष अपने विराट मन के द्वारा चिन्तानादि करते हैं । तुम दो आँखों से देखते हो, अपनी चाक्षुषीनाडी और स्नायुतन्त्री के सीमित सामर्थ्य से देखते हो किन्तु परम पुरुष अपनी अनन्त दृष्टिशक्ति के द्वारा सब कुछ देखते हैं एक ही साथ सम्पूर्ण

कार्यकलाप का अवलोकन करते हैं। इस भूमादृष्टि के लिए, सभी ओर उनकी दृष्टि शक्ति प्रसारित है। इसलिए जो तुम देखते हो या देख पाते हो, उसे भी वे अवश्य देखते हैं। सब मन की प्रतिच्छवि उनके मानस मुकुर में अविरल प्रतिफलित होता चलता है।

तुम्हारे हैं दो छोटे-छोटे पाँव। इसलिए तुम्हें पटना से कलकत्ता पहुँचने में कुछ समय अवश्य लगेगा। तुम एक ही समय कलकत्ता और पटना में नहीं रह सकते। परन्तु परमपुरुष का विराटत्व का निबन्धन, सब जगह उनका पाँव है। पटना से कलकत्ता जाने के लिए उन्हें पटना छोड़ने की आवश्यकता नहीं होती है। अर्थात् सर्वव्यापी होने के कारण वे सब कुछ देखते हैं, वे सबकुछ जानते हैं, सबकुछ समझते हैं, वस्तुतः वे ही सब कुछ हैं। यह पाञ्चभौतिक विश्वब्रह्माण्ड उनका मानस विषय है। वे ही परम विषयी हैं, और बाकी सब कुछ उनका विषय है। मनुष्य अपने उच्चतर कोषों की सहायता से निम्नतर कोष के पाञ्चभौतिक अभिप्रकाश का नियन्त्रण कर पाता है। और, सब कोषों का नियन्त्रक विन्दु है सहस्रार चक्र। अर्थात् इस पाञ्चभौतिक विश्व में सहस्रार चक्र है, सब के ऊपर। यह सहस्रार चक्र है परम पुरुष का अधिष्ठान स्थल और इसलिए सहस्रार चक्र है चरम नियन्त्रक विन्दु। भूमा पुरुष अतीत और भविष्यत् दोनों जानते हैं। यहाँ कहा गया है कि परम पुरुष अतीत और भविष्यत् दोनों जानते हैं। किन्तु वर्तमान के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है।

अब प्रश्न है वर्तमान कहने से ठीक क्या समझा जाता है? अतीत का थोड़ा अंश और भविष्य का थोड़ा अंश जिसे मनुष्य अपने स्मृति पट पर धारण कर सकता है वही वर्तमान पदवाच्य है। मानो, दो आदमी के बीच बातचीत हो रही है। उनमें से जब एक आदमी कुछ बोलता है तो दूसरा आदमी सुनता है, कई सेकेण्ड बाद; क्योंकि वायु को, शब्दतरङ्ग को उस स्थान से स्थानान्तर कर बहाकर ले जाने में कुछ समय लगता है। जो बोलते हैं उनके लिए वक्तव्य अतीत का हो गया है और जो सुनते हैं उनके लिए

वह उस समय भी भविष्यत् की बात है। इसलिए वर्तमान काल कुछ नहीं है। विभु सत्ता सभी सत्ता के अतीत और भविष्यत् के सम्बन्ध में अवगत है।

‘सर्व’ शब्द का अर्थ क्या है? ‘स’ है सत्त्व गुण का बीजमन्त्र, ‘र’ शक्ति (energy) का बीजमन्त्र और ‘व’ है वैशिष्ट्य वा धर्म का बीजमन्त्र। इस विश्व में सब कुछ सत्त्वगुण से उद्भूत हुआ है और सब कुछ शक्ति या energy के द्वारा विधृत है और प्रत्येक सत्ता का एक मौलिक धर्म है। इसलिए प्रत्येक सत्ता ही इस सर्वगुण के द्वारा नियन्त्रित है। ‘सर्व’ माने सब कुछ, वह परम पुरुष इस सब कुछ को जानते हैं।

आनन्दमार्ग के दर्शनानुसार स्वर्ग-नरक कहकर कुछ नहीं है। इसलिए तुमलोग कभी भी किसी को असहाय कहकर चिन्ता मत करने दोगे। परम पुरुष स्वर्ग और नरक (यदि कहीं है) सर्वत्र हैं। इसलिए तुम अकेला कभी नहीं हो, तुमलोग कभी भी असहाय मानसिकता को प्रोत्साहित नहीं करोगे। परम पुरुष सदा सर्वदा तुम्हारे साथ हैं। सिर्फ इतना ही नहीं। वे तुम्हें सर्वदा प्यार करते हैं। इसलिए तुम किसी प्रकार की हीनमन्यता को प्रश्रय नहीं दोगे। उन्हीं परम पुरुष को अपने जीवन का एकमात्र ध्येय बना लो, और उन्हें जानकर मुक्त पुरुष होओ।

(पटना, १५ अगस्त, १९७८)

मन और इच्छाशक्ति

मनुष्य और पशु में मौलिक पार्थक्य यह है कि पशु परम पुरुष द्वारा निर्धारित नियमानुकूल कार्य करता है, वह स्वाभाविक रूप में प्रकृति के वश में रहकर करता है, किन्तु मनुष्य अपनी इच्छाशक्ति और मानसशक्ति के अनुकूल करता है। पशु को उन्नत मन नहीं है, किन्तु मनुष्य को वह है। इसलिए मनुष्य यदि अपने उन्नत मन को ठीक तरह काम में नहीं लगाया तो उसने पशु की अपेक्षा अधम की तरह कार्य किया। वैयष्टिक शारीरिक कारणवश मनुष्य-मनुष्य में मानसिक पार्थक्य अवश्य रहता है और इस मानसिक पार्थक्य के पीछे नानाविध संस्कारज संवेग रहता है। मनुष्य अच्छा काम भी कर सकता है और खराब काम भी कर सकता है। अर्थात् वह शेष पर्यन्त ऋणात्मक प्रतिसञ्चर के पथ में भी चल सकता है।

पाप कहने से सही रूप में क्या समझा जाता है ? जो करना उचित नहीं है उसे यदि नहीं किया जाये तो उसे प्रत्यवाय कहते हैं। और जो करना उचित है, वह यदि नहीं किया जाय, तो उसे प्रत्यवाय कहते हैं। पाप और प्रत्यवाय दोनों का मिलित नाम है पातक। इसलिए कोई पातकी जो पापकर्म करता है, तो वह बड़ा अपराधी होने पर भी अक्षम्य नहीं है। पातकी का उद्धार या पापमुक्ति हो सकती है, यदि वह अतीत के पाप को भूलकर आध्यात्मिक पथ पकड़कर चलने लगे। द्वितीय प्रकार के पातकी को अतिपातकी कहा जाता है। अतिपातकी उसे कहा जाता है जिसने किसी निर्दिष्ट मनुष्य की स्थायी शारीरिक या मानसिक क्षति की है। तृतीय प्रकार के पातकी को महापातकी कहा जाता है। महापातकी का अपराध पुनःपुनः होता है। अतिपातकी के लिए मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है अपने वैयष्टिक सुख

सुविधा को विसर्जन कर मानव कल्याण के व्रत के लिए अपने को उत्सर्ग तो करना ही तदतिरिक्त उसे ऐसा कुछ करना होगा जिसका फल मानवजाति के लिए चिर कल्याणप्रद हो।

(पटना, १६ अगस्त, १९७८)

बन्धन मुक्त होओ

“मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।” मनुष्य का मन ही है बन्धन तथा मुक्ति का कारण । ऐसा क्यों कहा गया है ? क्योंकि मनुष्येतर जितने जीवजन्तु हैं, उन्हें किन्हीं को स्वाधीन मन कहकर कुछ नहीं है । कई स्वभावज प्रवृत्तियों द्वारा वे परिचालित होते हैं । किन्तु मनुष्य को स्वाधीन मन कहकर एक चीज है । मनुष्य अपनी इच्छानुसार काज-कर्म कर सकता है । उसके द्वारा बन्धन का पथ या मुक्ति का पथ चुन ले सकता है और यही है मनुष्य और पशु के बीच मूलगत पार्थक्य ।

मन को एक विषय लेकर रहना ही होगा । इसलिए शास्त्र में विषय को ‘आभोग’ कहते हैं । ‘आभोग’ उसी को कहते हैं जो मन की खुराक है, जिसे अंग्रेजी में कहते हैं मेन्टल पेबुलम (mental pebulum) । यह मानस आभोग यदि सीमित प्रकार का हो, तो मनुष्य का आभोग सीमित हो सकता है और मानस आभोग यदि अनन्त हो तो उसी अनन्त प्राप्ति की एषणा से मनुष्य का आभोग अनन्त हो जाता है । मनुष्य इस सीमित आभोग या अनन्त में से किसको चुन लेगा, वह उसकी मानस इच्छा के ऊपर सम्पूर्ण रूप से निर्भर करता है । मनुष्य बड़ा होगा या छोटा वह सम्पूर्णतः निर्भर करता है संश्लिष्ट मनुष्य की आशा-आकाङ्क्षा पर ।

“बन्धस्तु विषयासङ्गी मुक्तो निर्विषयस्तथा ।” मनुष्य का मानस विषय यदि छोटेमोटे हों और उनसे वह बद्ध हो जाय, तब वह बन्धन में बँध जाता है । मन का विषय यदि अनन्त हो तब उस अनन्त विषय की प्राप्ति की एषणा में ही वह तल्लीन हो जाता है । इस अनन्त सत्ता को धारण करना सम्भव नहीं है, अतः हमलोग इसको कहते हैं ‘मुक्ति’ (liberation) ।

“पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तो भवेच्छिवः ।” जिस मनुष्य का विषय अत्यन्त क्षुद्र या सीमित है, वह बद्ध जीव है और जब मनुष्य का मानस आभोग अनन्त है, तब मन को सीमा के बन्धन में बाँध कर रखा जा नहीं सकता । इसलिये वह बन्धन से अतीत अवस्था है अर्थात् मुक्ति की अवस्था है । मनुष्य आध्यात्मिक साधना क्यों करता है ? उसकी आध्यात्मिक साधना का उद्देश्य है जीव का क्षुद्रत्व के भावको त्याग कर बन्धनमुक्त होना या शिवत्व प्राप्त करना । मात्र यही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है ।

(पटना, १७ अगस्त, १९७८)

कृष्ण और राम

‘कृष्ण’ शब्द की तीन प्रकार की व्याख्या है—दार्शनिक (philosophical), जीववैज्ञानिक (biological) तथा ऐतिहासिक (historical)। दार्शनिक दृष्टिकोण से कृष्ण माने वह सत्ता जो अपनी ओर सबको आकर्षित कर रहे हैं। ज्ञात रूप में हो या अज्ञात रूप में हो, सभी उनकी ही ओर आकृष्ट होकर चल रहे हैं। अवश्य ही जीव का धर्म है परम पुरुष की ओर बढ़ चलना। वे सबों को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं। जीव उनके आकर्षण से आकृष्ट होकर उन्हीं की ओर वेग से दौड़ रहा है।

द्वितीय दार्शनिक व्याख्या है प्रत्येक अणुमन में ‘मैं हूँ’, ‘मैं रहता हूँ’ इस प्रकार का एक बोध रहता है। इसलिए ‘मैं’ बोध भी रहता है। कृष्ण नहीं रहते, तब यह ‘मैं’ बोध नहीं रहता। इसलिए कहते हैं ‘कृष्णः’।

जीववैज्ञानिक या बायोलोजिकल (biological) ‘कृष्ण’ क्या है? जीववैज्ञानिक कृष्ण है एक ऐसी सत्ता जो सहस्रार चक्र के केन्द्रविन्दु में अधिष्ठित होकर समस्त जैवी वृत्ति का नियन्त्रण करते हैं।

अब ऐतिहासिक कृष्ण की बात आती है। सब कोई जानते हैं महाभारत के युग में कृष्ण नाम के एक विराट ऐतिहासिक पुरुष का आविर्भाव हुआ था, जिन्होंने धर्म और नैतिकता की प्रतिष्ठा के लिए स्वयं संग्राम किया था और दूसरों को भी संग्राम में उदबुद्ध किया था।

परमपुरुष का और एक नाम है ‘राम’। इस ‘राम’ शब्द की भी तीन प्रकार की व्याख्या है। योगी या आत्मात्मिक साधक सीमित वस्तु से सन्तुष्ट नहीं होते हैं। वे चाहते हैं अनन्त असीमित कुछ। “नाल्पो सुखमस्ति भूमैव

सुखम्”। सीमित खण्ड सत्ता से आनन्द प्राप्ति सम्भव नहीं है। जो असीम सत्ता अनन्त आनन्द का सन्धान दे सकते हैं, वही सत्ता है ‘राम’- रमन्ते योगिनः यस्मिन्।

‘राम’ शब्द का द्वितीय अर्थ है “रति महीधरः रामः”। इस विश्व की सर्वापेक्षा प्रोज्ज्वल सत्ता है राम। ‘रति’ शब्द का आदि अक्षर है ‘रा’ और ‘महीधर’ शब्द का आदि अक्षर ‘म’ है। दोनों मिलकर हुआ ‘राम’। इस सौर जगत् में हमलोग सूर्य से शक्तिप्राप्त करते हैं, किन्तु सूर्य किससे शक्ति प्राप्त करता है? हाँ, वह परम पुरुष से शक्ति प्राप्त करता है। इस विश्व ब्रह्माण्ड में अजस्र अनगिनत सौर जगत् हैं और इस समस्त सौर जगत् के केन्द्रविन्दु में हैं परमपुरुष-पुरुषोत्तम। वे ही विश्व ब्रह्माण्ड के यावतीय शक्ति के मध्यमणि, और केवल उन्हीं से सूर्य प्राप्त करता है शक्ति। इसीलिए कहा जाता है- “रति महीधरः रामः”।

‘राम’ शब्द की तृतीय व्याख्या है—“रावणस्य मरणम् रामः। ‘रावण’ शब्द का आदि अक्षर ‘रा’ और ‘मरणस्य’ का आदि अक्षर ‘म’, दोनों मिलकर ‘राम’ हो गया। यहाँ ‘रावण’ शब्द का क्या अर्थ है? रावण है पुराण में वर्णित दश मस्तकविशिष्ट एक काल्पनिक चरित्र या पात्र। यहाँ दस सिर है मानव मन की बहिर्मुखी वृत्ति का द्योतक जो वृत्तियाँ मनुष्य के मन को बाहर के जड़ जगत् में दस दिशाओं में दौड़ा देती है। अब, मनको इस जड़ता के हाथ से किस तरह बचाया जाय? इसके उत्तर में कहूँगा, ‘केवल परम पुरुष का शरण लेने का माने ही है रावण की मृत्यु’। इसलिए जिसके हाथ से रावण की मृत्यु सुनिश्चित है, वही राम है।

MG 18-8-78

(पटना, २७ अगस्त, १९७६)

मनुष्य निमित्त मात्र है

सौ + अन करके 'रावण' शब्द निष्पन्न होता है। जो जीव को पतन कराता है, जो जीव को सैरव नरक के पथ में डेल देता है, वही रावण है। वस्तुतः अधःपतित स्थूलत्व प्राप्त मन जो दश दिशाओं में काम करता चलता है, वही रावण है। यहाँ रावण है एक पौराणिक कल्पना, ऐतिहासिक सत्ता नहीं।

संस्कृत साहित्य का चार विभाजन है—(१) काव्य (घटना का एक चित्ताकर्षक उपस्थापना) ; (२) पुराण, (काल्पनिक, किन्तु शिक्षाप्रद कहानियाँ हैं) ; (३) इतिहास, (घटना का तत्व-तथ्यगत पञ्जीकरण) ; (४) इतिहास (शिक्षागत मूल्य है, ऐसी वास्तविक घटना का पञ्जीकरण)। महर्षि वेदव्यास ने अठारह पुराणों को लिखा था। सब काल्पनिक कहानियाँ। उनमें से कोई हो सकता है स्वीकृत दर्शन के विरुद्ध भी गया हो। इसीलिए वेदव्यास ने अन्त में एक श्लोक की रचना परम पुरुष के सामने क्षमाभिक्षा रूप में की है—

“रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो यदध्यानेन कल्पितम्
स्तुत्याऽनिर्वचनीयता अखिलगुरो दूरीकृता यन्मया।
व्यापित्वं च निराकृतं यत् तीर्थयात्रादिना
क्षन्तव्यं जगदीशतद्विकलतादोषत्रयं मत्कृतम् ॥”

इस विश्व की सर्वापेक्षा भास्वर सत्ता कौन है ? यह भास्वर सत्ता है परम पुरुष। क्योंकि ब्रह्मचक्र के भूमाकेन्द्र से ही सभी सत्ताएँ अपने लिए शक्ति प्राप्त करते हैं। वे ही सबों की अपेक्षा प्रोज्ज्वल सत्ता है, आलोकोज्ज्वल सत्ता है। छोटे बड़े सभी वस्तुओं की एक वृत्ताकार संरचना रहती है। एक छोटा परमाणु है—उसका भी एक नियन्त्रण केन्द्र रहता है और उसी नियन्त्रण केन्द्र

के चारों ओर घूमते चलते हैं बहुसंख्यक विद्युताणु। चन्द्रमा घूमती है पृथ्वी ग्रह के चारों ओर, और अन्य ग्रहसमूह घूमते हैं सूर्य के चारों ओर, और समग्र और संरचना घूमती है विश्व ब्रह्माण्ड की मध्यमणि के चारों ओर। इसलिए परम पुरुष के साथ सम्पर्कित होने से सूर्य का भी विशेष महत्व है। यह हमलोगों का बहुपरिचित Electricity या विद्युत यह भी सूर्य से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शक्ति प्राप्त करता है। अन्यान्य ज्योतिष्कसमूह भी सूर्य से शक्तिप्राप्त करते हैं। एकमात्र वही है विश्व के ज्योतिष्मान् सत्ता और बाकी सबों का प्रकाश है उन्हीं का प्रतिफलित ज्योति मात्र। वे ही हैं विश्व की सर्वापेक्षा ज्योतिष्मान् सत्ता।

शक्ति को खाली आँख से देखा नहीं जा सकता। वैद्युतिक बत्ती जल रही है, पंखें चल रहे हैं, इत्यादिको देखकर शक्ति के क्रियान्वित रूप को समझ सकते हैं। ठीक वैसे ही किसी ने कभी भी सूर्य को प्रत्यक्ष नहीं किया, किया है उसके कर्मगत अभिव्यक्ति को। बहुत दूर से देखने पर सूर्य गोलाकार दिखाई देता है किन्तु नजदीक से देखने से मालूम होता है, मात्र एक ज्वलन्त अग्निपिण्ड। इसलिए विद्युत, सूर्य - ये सब अनुभव करने की वस्तुएँ हैं। मन के सम्बन्ध में भी एक ही बात प्रयोज्य है। कोई भी मन को उँगली से नहीं दिखा सकता है। कोई कभी भी अपने मन को देख नहीं सकता है। सिर्फ यही अनुभव करता है कि मन कहकर एक चीज है। ठीक उसी तरह परम पुरुष कैसे है, वह अनुभव किया जा सकता है, उपलब्धि की जाती है। मनुष्य के मन की इस शरीर यन्त्र के माध्यम से अभिव्यक्ति होती है। मानो कोई अपने अर्जितज्ञान या बौद्धिक शक्ति का गर्व करता है। यह है एक प्रकार की मानसिक अभिव्यक्ति। जब तुम अपने अस्तित्व को सामग्रिक रूप से अनुभव करते हो, तब तुम एक सम्पूर्ण परिवर्तित सत्ता हो जाते हो। मानलो, तुमने भूत देखा। इस दिशा में तुमने क्या किया ? -हाँ, तुमने एक ऋणात्मक भ्रान्ति-दर्शन की सृष्टि की। परवर्तीकाल में भय के कारण जब तुम्हारी समग्र सत्ता सङ्कुचित हो गई, तब मन हो गया विषयीभूत।

अनुरूप भाव से जीव मन की, जब परम पुरुष की भावना, सम्पूर्ण रूप से हो जाती है, तभी मनुष्य लाभ करता है एक आनन्दघन अवस्था, जिसे वह अपने अन्तर में अनुभव करता है, किन्तु मुख से व्यक्त कर नहीं सकता।

मनुष्य छोटा या बड़ा कुछ भी सृष्टि नहीं कर सकता। वह सिर्फ माध्यम मात्र है। परम पुरुष से वह शक्ति पाकर ही कुछ कर पाता है। इस प्रसंग में उपनिषद् की एक सुन्दर कहानी है। एकबार देवराज इन्द्र किसी विषय में, उपदेश के लिए सर्व शक्तियों के उत्स परमपुरुष के पास उपनीत हुए। परम पुरुष ने सिर्फ एक शब्द का उच्चारण किया - 'द'। देवताओं ने इसकी व्याख्या की- 'दमनं कुरु' अर्थात् हीन प्रवृत्तिका दमन करो। मनुष्य और असुर दोनों ही उनके पास गये। परम पुरुष ने मनुष्य और असुर दोनों के लिए एक ही शब्द का उच्चारण किया- 'द'। मनुष्यों ने इसका अर्थ लिया - 'दयां कुरु' (दया करो) और असुरों ने इसकी व्याख्या की 'दानं कुरु' (दान करो)। इसीलिए देखा जाय असुरों के बीच सम्राट महाबलि के समान और दाता कौन है ?

(पटना, १८ अगस्त, १९७८)

गोपी कौन ?

परम तत्व को लाभ करने के लिए तीन स्वीकृत उपाय की बात कही जाती है—ज्ञान, कर्म और भक्ति। सबों ने मान लिया है। इतना ही नहीं, शङ्कराचार्य जी भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कहकर गण्य होते हैं, उन्होंने भी अत्यन्त स्पष्ट भाषा में कहा है—'मोक्षकारणसमग्रयां भक्तिरेव गरीयसी।' भक्ति- मोक्ष के लिए भक्ति ही है सर्वोत्तम उपाय। ज्ञान और कर्म की अपेक्षा भक्ति अवश्य ही महत्तर है।

भक्ति किसे कहेंगे ? संस्कृत में 'भज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर 'भक्ति' शब्द निष्पन्न होता है। 'भज्' धातु का अर्थ है सब चिन्ता परित्याग कर एक अद्वितीय परम सत्ता का भजन करना और सब प्रकार की भावना, चिन्ता को दूर हटा कर एकमेवाद्वितीय सत्ता की ओर जब मन की भावना, आशा-आकांक्षा, चित्तवृत्ति सब कुछ जब दौड़ चलती है, उसी मानस प्रवाह को भक्ति कहते हैं। यह जो भक्ति की अनन्यमुखी धारा है, इसी को 'प्रेम' कहा जाता है। जब यह मानस प्रवाह अन्य किसी वस्तु की ओर धावित न हो, केवल विष्णु की ओर धावित होता है, इसीलिए प्रेम पदवाच्य है। "अनन्यममता विष्णुर्ममता प्रेमसङ्गता" ॥

'मम' माने हमारा और 'ममता' है 'मम' शब्द के उत्तर 'ता' प्रत्यय योग से भाववाचक विशेष्य। 'ममता' माने मेरा, मेरा भाव।

'विष्णु' कहने से सही रूप में क्या समझा जाता है ? जो सत्ता सर्वव्यापी सर्वानुस्यूत है वही विष्णु है। "विस्तारः सर्वभूतस्य विष्णोर्विश्वमिदं जगत्"। अर्थात् जो सत्ता विश्व के प्रत्येक अणु-परमाणु में अनुप्रविष्ट होकर रहते हैं, वही

विष्णु हैं। भक्ति के क्षेत्र में कोई छिद्रावरण से काम नहीं चलेगा, कोई खाद रहेगा नहीं। मान लो, मनुष्य सोना में तौबा मिलाता है, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में कोई मिश्रण से काम नहीं चलेगा। भक्ति को अवश्य ही शुद्धाभक्ति होना पड़ेगा, अविमिश्रा भक्ति अर्थात् कहा जाता है मन में कोई गुप्त स्वार्थबुद्धि प्रेरित कामना-वासना नहीं रहेगी। यदि मन में और कोई वासना रहे तो हो सकता है, उस वासना की पूर्ति हो, किन्तु उस अवस्था में परम पुरुष अलभ्य ही रह जायेगे। गुप्त इच्छा ही मुख्य चिन्तन था और भक्ति थी केवल लोक-दिखावा की वस्तु। भक्ति के विषय में यह नहीं चलेगा।

यहाँ शुद्धाभक्ति कैसी चीज है ? मैं तुमसे कुछ नहीं चाहता हूँ, सिर्फ तुमको प्यार करता हूँ, और प्रेम इसलिए करता हूँ कि तुमको प्यार करने से मुझे भी आनन्द मिले। यह है रागानुगा भक्ति या शुद्धा भक्ति। यह रागानुगा भक्ति ही अन्तिम बात नहीं है। रागानुगा भक्ति के पीछे भाव यह है कि मनुष्य परम पुरुष से प्रेम करेगा इसलिए कि परम पुरुष को प्यार कर वह स्वयं भी आनन्द पायेगा। जो और बड़े भक्त हैं, वे इस बात को पसन्द नहीं करते हैं। ये परमपुरुष से प्रेम करते हैं—अपने आनन्द पाने के लिए नहीं, परम पुरुष आनन्द पायेगे, इसलिए वे उन्हें प्यार करते हैं। परम पुरुष आनन्द पायें यह ही उन्हें काम्य है। मैं अपने लिए आनन्द नहीं चाहता हूँ, मैं तुम्हें आनन्द देना चाहता हूँ, इसलिए तुम्हें प्यार करता हूँ। यही सर्वोच्च भक्ति। शास्त्र में इसे ही कहते हैं रागात्मिका भक्ति। जो इस रागात्मिका भक्ति की साधना करते हैं वे ही हैं 'गोप'। 'गोपायते यः सः गोपः'। लौकिक संस्कृत में 'गोप' का अर्थ है गोपालक, किन्तु दर्शन की भाषा में वैसा नहीं है। 'गोपायते' का माने है "आनन्द विधान करना।" इसलिए परम पुरुष के लिये आनन्द विधान करना ही जिनका स्वभाव है, वे ही हैं 'गोप'। भक्ति शास्त्र में कहा गया है—परमात्मा हैं इन गोपों के दासानुदास। इसलिए मैं कहूँगा, साधक के जीवन में रागात्मिका भक्ति ही है मोक्ष लाभ करने का सुन्दर उपाय। इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है।

(पटना, १६ अगस्त '७८)

‘मद्भक्ताः यत्र गायन्ते’

कीर्तन के सम्बन्ध में भक्तिशास्त्र से जो एक लोक प्रायः उद्धृत होता है वह है—

“नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।

मद्भक्ताः यत्र गायन्ते तत्र तिष्ठामि नारद ॥”

यहाँ नारायण कहते हैं, वे कहाँ रहते हैं और कहाँ नहीं रहते हैं। नारायण है एक सर्वानुस्यूत सत्ता। शास्त्र की भाषा में 'वही सर्वव्यापी या सर्वानुस्यूत सत्ता 'विष्णु' नाम से परिचित है।

“विस्तारः सर्वभूतस्य विष्णोर्विश्वमिदं जगत्।”

“नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे” अर्थात् मैं वैकुण्ठ में नहीं रहता हूँ। यहाँ 'वैकुण्ठ' शब्द का अर्थ क्या है ? 'कुण्ठा' माने सङ्कोचन। अब प्रश्न है, मन का यह सङ्कोच आता है क्यों ? मनुष्य जब पाप करता है अथवा हीन वृत्ति के द्वारा प्रेषित होता है, तभी उसका मन सङ्कुचित हो जाता है। मन की उस सङ्कुचित अवस्था में आत्मा के विस्तार का अवकाश नहीं रहता। इसलिए आत्मा की विस्तृति के लिए, मन की यह सङ्कोचन अवस्था कब दूरीभूत होती है ? हाँ, मन जब पाप चिन्तन से दूर हट जाता है और जिस मुहूर्त में मन की सङ्कोचन अवस्था दूर होती है, तभी मन पाप की आविलता से मुक्त होता है, और तभी उस मनुष्य के हृदय में वैकुण्ठ की अवस्थिति होती है। “नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे”। नारायण कहते हैं—वे इस प्रकार के वैकुण्ठ में वास नहीं करते हैं।

‘योगिनां हृदये न च’। वे और बोलते हैं, वे योगियों के हृदय में भी

निवास नहीं करते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है, यदि वे योगियों के हृदय में भी निवास नहीं करते हैं, तब वे कहाँ वास करते हैं ?

योगी कौन है ? “ संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मा-परमात्मनः । ” अर्थात् जब जीवात्मा और परमात्मा दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, वही है ‘योग’ । ‘योग’ शब्द संस्कृत के मूल धातु ‘युज्’ और उसके साथ ‘घञ्’ प्रत्यय मिलाकर निष्पन्न होता है । दो और दो मिलाकर चार । किसी किसी क्षेत्र में सत्ताएँ मिलित या मिश्रित अवस्था में भी अपने सत्तागत पृथक अस्तित्व को बचाकर रखते हैं । जैसे दो आम और दो आम मिलकर हुआ चार आम और ये चार आम पृथक पृथक चार जाति के भी हो सकते हैं, यद्यपि अभी वे संख्या में दो दो मिलकर चार में परिणत हुए हैं । इस क्षेत्र में वे मिलजुल कर एक नहीं हुए हैं । उनके पृथक अस्तित्व अक्षुण्ण रह गये हैं । इस प्रकार का मिलन या मिश्रण को सही में योग नहीं कह सकते । वास्तव में योग में समरसता या सामरस्य प्रतिष्ठित होता है । अर्थात् यह एक संयुक्ति की अवस्था है, जिसमें भिन्न भिन्न सत्ताओं के, फिर, पृथक अस्तित्व बचा नहीं रहता, सब मिलजुल कर एकत्रीभूत हो जाते हैं । यही है सही में योग की अवस्था । जो इस योग की अवस्था में प्रतिष्ठित है, वे ही योगी हैं । योग की दूसरी व्याख्या है, “ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ” । जब मानव मन की विभिन्न वृत्तियाँ निरुद्ध होती है, उसी अवस्था को ‘योग’ कहा जाता है और उस अवस्था प्राप्त साधक को ‘योगी’ कहते हैं । नारायण कहते हैं, वे इस प्रकार के योगियों के हृदय में भी वास नहीं करते हैं । क्या अदभूत बात है ! नारायण हैं सर्वानुस्यूत सत्ता । यदि ऐसा है, तब क्या योगी का हृदय उस ‘सर्व’ के बाहर है ? हाँ, इसका एक उत्तर है । वे कहते हैं, “ मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ” । जहाँ मेरे भक्तलोग कीर्तन करते हैं, मैं वहीं अवस्थान करता हूँ । नारद ! मैं अपने भावकेन्द्रको, कर्म केन्द्र को, वहीं स्थानान्तरित कर देता हूँ । ”

‘नारद’ शब्द का क्या अर्थ है ? ‘नार’ शब्द का तीन अर्थ है । प्रथम

अर्थ है नीर या जल (water), द्वितीय अर्थ है परमा प्रकृति (Supreme Creative Principle) ; तृतीय अर्थ है ‘भक्ति’ (devotion) । नार + द = नारद । मूलधातु ‘दा’ + ‘ड’ प्रत्यय योग कर “ दा ” शब्द आया है । ‘द’ माने जो देता है या जो देते हैं (giver) । तब ‘नारद’ शब्द का अर्थ हुआ जो भक्ति दान करते हैं, या भक्ति वितरण करते हैं । नारायण ने नारद को कहा - हे नारद ! मैं अपने केन्द्र को स्थानान्तरित वहीं करता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरा नाम लेते हैं, जहाँ मेरा गुणकीर्तन करते हैं । ऐसा मैं क्यों करता हूँ, उसके उत्तर में कहूँगा कि भक्त के हृदय में उच्छ्वास और आवेग रहता है । उस उच्छ्वास और आवेग के माध्यम से मैं विश्व में आध्यात्मिक तरङ्गधारा उत्सारित करता हूँ । ”

योगीलोग अपनी चित्तवृत्ति को निरुद्ध करने के लिए अपने हृदय के द्वार बन्द करके रखते हैं । इसलिए उनके हृदय में कोई तरङ्गधारा उत्सारित होगी नहीं । इस कारण से यद्यपि अपने केन्द्र को योगियों के हृदय में स्थानान्तरित करना चाहते हैं, किन्तु वहाँ से तो आध्यात्मिक तरङ्गधारा का उत्सारण नहीं होगा । किन्तु यदि वे भक्तमण्डली के बीच में अपने केन्द्र को ले जायँ तो वहाँ से समग्र विश्वब्रह्माण्ड को आध्यात्मिक तरङ्ग से तरङ्गायित करना सम्भव होगा । उससे नारायण का उद्देश्य सफल होगा । इसलिए नारायण के लिए योगियों के हृदय में अपना स्थान स्थापन करना ही अधिकतर बुद्धिमता का कार्य होगा । हाँ, यह बात ठीक है कि नारायण सर्वत्र ही विराजमान हैं, किन्तु उनकी आध्यात्मिक तरङ्ग का स्फुरण, विस्फुरण और स्पन्दन सर्वत्र समान नहीं है । वे सब जगह रहते हैं यह बात ठीक है, किन्तु उनका स्थानिक उत्सारण केवल वहाँ से शुरू होता है जहाँ उनका निःकलियस या केन्द्रविन्दु अधिष्ठित है । जहाँ भक्तलोग उच्च स्वर से उनकी महिमा का कीर्तन करते हैं, परम पुरुष सिर्फ उसी स्थान में ही अपनी दिव्य राजधानी स्थापन करते हैं । भक्त मण्डली के समावेश की अपेक्षा और ऊँचा स्थान क्या हो सकता है ? इसलिए नारायण कहते हैं—‘मैं वैकुण्ठ में नहीं रहता हूँ, रहता हूँ वहाँ जहाँ हमारे भक्तलोग मेरा गुण कीर्तन करते हैं ।’ यह बात एकदम सही है ।

(पटना, २० अगस्त १९७८)

परम सत्य की खोज

इस विराट विश्व-ब्रह्माण्ड के मध्यमणि हैं पुरुषोत्तम । प्रत्येक पारमाणविक संरचना के एक केन्द्रविन्दु के चारों ओर अजस्र विद्युताणु घूमते रहते हैं । इसी तरह हमलोगों के इस पार्थिव चक्र का केन्द्रविन्दु है यह पृथ्वी, और उसके चारों ओर चन्द्रमा घूम रहा है । वैसे ही सौर चक्र में सूर्य केन्द्रविन्दु है, और उस सूर्य के चारों ओर घूम रहे हैं अनेकों ग्रह । वैसे ही विश्व संरचना के मध्यमणि हैं पुरुषोत्तम और उनके चारों ओर घूम रहे हैं अजस्र सत्ता, अजस्र और संरचना ।

इस विश्व सृष्टिधारा का एक अपना वैशिष्ट्य है । अन्यान्य संरचना के क्षेत्र में केन्द्रविन्दु के चारों ओर जो घूमते हैं, वे परिदृशमान जगत् के मध्य ही घूमते हैं, किन्तु सृष्टि की गतिधारा केवल भौतिक क्षेत्र में ही सीमाबद्ध नहीं है, वह मानस जगत् के क्षेत्र में भी प्रयोज्य है । अर्थात् बात यह है कि विश्व सृष्टि संरचना में समस्त जीव जगत् परम पुरुष के चारों ओर घूम रहा है, मानसिक रूप में भी कोई यह ज्ञात रूप में करता है, कोई अज्ञात रूप में कर रहा है । जो इस तरह ज्ञात रूप से उनके चारों ओर घूम रहे हैं, नृत्य करते चल रहे हैं, वे वास्तव में भाग्यवान हैं । और अनेक उनके चारों ओर घूम रहे हैं, अज्ञात रूप में, बिना समझे-बूझे ।

यह जो परम पुरुष के चारों ओर घूमना है यह जो जान नहीं पाते हैं, वे स्थूल मानस आभोग के प्रभाव के कारण । और इसके फलस्वरूप सृष्टि के मध्यमणि से उनके व्यासार्धगत दूरत्व बढ़ता चलता है, और कभी-कभी उनके बीच का व्यवधान कम भी हो जाता है, जब उनकी अज्ञानतावश यह दूरत्व बढ़ जाता है, उनके क्लेश की मात्रा भी बढ़ जाती है, और जब उनके

व्यासार्ध का दूरत्व कम हो जाता है तब उनकी सुखानुभूति बढ़ जाती है । यही है इस विश्व सृष्टि व्यवस्था का एक विशेष वैशिष्ट्य । अन्यान्य केन्द्र विन्दुओं के क्षेत्र में जो चलमानता है, वह सिर्फ भौतिक जगत् में है ।

प्रत्येक सत्ता को याद रखना उचित है कि सब कुछ मानससृष्ट है इतना ही नहीं, मानस सामर्थ्य की अभिव्यक्ति भी परम मध्यमणि के चारों ओर घूम रही है । इसलिए प्रत्येक जीव के वैयष्टिक छन्द के साथ परमागति के सन्तुलन को कायम रखकर ही चलना उचित है (subjective approach through objective adjustment) । मनुष्य इस धर्मचक्र में योगदान करता है, उससे यह सबजेक्टिव ऐप्रोच या परमागति के साथ वैषयिक जगत् का एक सन्तुलन का प्रयास है; क्योंकि परमपुरुष हैं जीव के परम आराध्य (Supreme Subject) और अन्यान्य सत्ता या वस्तु समूह हैं, उनके मानस विषय (object) । और यदि मनुष्य के ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को विषय माना जाय, तो मनुष्य का मन है विषयी (Subject) । फिर मन जहाँ विषय है वहाँ आत्मा विषयी है । आत्मा जहाँ विषय है वहाँ विषयी है परमात्मा । इस प्रकार देखने से परमात्मा ही हैं सर्वोच्च विषयी (Supreme Subjectivity) तथा ब्रह्म का अतिमानस कोष है ब्रह्म का स्थूलतम विषय । जहाँ ज्ञान है किन्तु भक्ति नहीं है, वहाँ इस प्रकार के मनुष्य, अपने वैशिष्ट्य को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, और मनुष्य जहाँ परम सत्ता का अनुसन्धान न कर अपने वैशिष्ट्य की प्रतिष्ठा के प्रयास में रत है, वहाँ मनुष्य परम सत्य के जानने में व्यर्थ होता है !

(पटना, २१ अगस्त, १९७९)

तुम क्या चाहते हो ?

हमलों के समाज में अगणित नैयायिक हैं। उनमें से कोई कहते हैं—यह ठीक है, फिर कोई कहते हैं—नहीं, यह ठीक नहीं है। हमलोग इस प्रकार के नैयायिकों के ऊपर निर्भर करके बैठे रह नहीं सकते। बात है मनुष्य को उचित है कि वे अपने आदर्श को जकड़ कर, पकड़ कर, रहें, नीति का अनुसरण करें और नैयायिक ने क्या कहा उसके ऊपर निर्भर होकर हाथ-पाँव मोड़कर बैठे रहना एकदम ठीक नहीं है।

“निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।

लक्ष्मी समाविशतु गृहं गच्छतु वा यथेष्टम् ॥

अद्यैव मरणमस्तु युगान्तरे वा।

न्यायात् पथः प्रतिचलन्ति पदं न धीराः ॥”

शास्त्र में कहा गया है मनुष्य को उचित है कि वे अपने आदर्श को दृढ़ रूप से पकड़कर रहें। उससे उसकी निन्दा या प्रशंसा कुछ भी क्यों न हो, उससे उसके घर में धनागम हो या धनक्षय हो, उससे वे हजार वर्ष बचें या परमुहूर्त ही मृत्यु मुख में पड़ें, उससे उनका कुछ आता जाता नहीं है। इस प्रकार के लोगों को कहते हैं ‘धीर’। तुमलों के लिये मेरा निर्देश है—तुमलोग इस प्रकार के धीर स्वभाव में प्रतिष्ठित होओ, जो कुछ भी क्यों न घटे। अपने आदर्श को ठीक से पकड़ कर रहो। इसी में है तुमलों की आध्यात्मिक प्रगति।

यदि परमपुरुष तुमसे पूछे—तुम क्या चाहते हो, तुम उत्तर में क्या बोलोगे ? तुम अवश्य कहोगे—हे परम पुरुष, मैं तुम्हारा आशीर्वाद चाहता हूँ

जिससे हमारी मेधा-बुद्धि सत्पथ पर परिचालित हो। तुमलोग जानते हो कि बुद्धि ही है मनुष्य की प्रगति और अधोगति का कारण। इसलिये तुम्हारा मन यदि आगे चलने की यथार्थ दिक्-निर्देशना प्राप्त करे, तब तुम्हारा और क्या प्रयोजन रहेगा।

वेद में कहा गया है, इस विश्व के स्रष्टा हैं सुमहान परम पुरुष। वेद में कहा गया है कि परम पुरुष से मनुष्य को पाने के लिये सिर्फ एक ही चीज है और वह है कि उसकी मेधा और बुद्धि शुभ के साथ संयुक्त हो।

गायत्री छन्द में रचित प्रार्थना में कहा गया है—“हे विश्वस्रष्टा ! मेरी बुद्धि को भूमानन्द के पथ में परिचालित कीजिये।” वेद सब विभिन्न छन्दों में लिखे गये हैं—गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप, त्रिष्टुप, जगति, वृहति और पङ्क्ति। गायत्री छन्द में तीन पङ्क्ति है और प्रति पङ्क्ति में आठ मात्राएँ हैं। ‘गायत्री’ शब्द का अर्थ है जिस गान के माध्यम से मनुष्य की मुक्ति का पथ प्रशस्त हो। मनुष्य जब तक इष्ट मंत्र की साधना नहीं प्राप्त करता है तबतक इस इष्ट गायत्री का व्यवहार कर सकता है, किन्तु एकबार इष्ट मंत्र की साधना पा जाने पर फिर गायत्री मंत्र की आवश्यकता पड़ती नहीं।

(पटना, २२ अगस्त, १९७८)

स्वधर्म और परधर्म

इस परिदृश्यमान जगत् में जड़ और चेतन दो प्रकार की सत्ताएँ हैं। सभी जीवों का अपना अपना एक एक धर्म है। जीवमात्र के लिये इस धर्म को कहते हैं जैवधर्म, किन्तु मनुष्य का धर्म है—‘भागवत् धर्म’। यह भागवत धर्म निहित है विस्तार, रस, सेवा के तत्व में। अपने स्वधर्म का अनुवर्तन करो, वही स्वधर्म ही है तुम्हारा भागवत् धर्म।

मनुष्य ईश्वर से प्रेम करता है, कोई समझ-बूझकर तो कोई बिना समझे-बूझे। प्रत्येक मनुष्य को आध्यात्मिकता के प्रति एक आकर्षण रहता है। हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, क्रिश्चियन धर्म ये सब मनुष्य के धर्म नहीं हैं। मनुष्य का स्वधर्म है ‘भागवत धर्म’। भागवत धर्म में सात्त्विक, राजसिक और तामसिक शक्तियों का अस्तित्व अस्वीकृत है। क्योंकि भागवत धर्म है गुण-अपराध वर्जित। ये जो तीन गुण हैं, ये मानो अरण्यचारी तीन तस्करों के समान हैं। गल्प में है—एक भद्र पुरुष के साथ उन लोगों का साक्षात् हुआ। वे भद्र पुरुष जङ्गल में राह भूलकर इधर उधर भटक रहे थे। एक तस्कर ने उस भलेमानुष को बाँध दिया। उस भलेमानुष ने उससे पूछा, “तुम कौन हो ?” तस्कर ने उत्तर दिया—“मैं तमोगुण हूँ !” द्वितीय तस्कर ने भद्र पुरुष के निकट आकर देखा कि वह भलेमानुष यन्त्रणा से छटपट कर रहे हैं। तस्कर ने उनके हाथ-पाँव का बंधन खोल दिया। तब उस भद्र पुरुष ने उससे पूछा—“तुम कौन हो ?” प्रत्युत्तर में उसने उत्तर दिया—“मैं रजोगुण हूँ ”। इसके बाद तीसरा तस्कर उस भद्र पुरुष के पास आकर उनका दुःख देखकर विह्वल हो गया। उसने कहा—“आप यदि उस ओर जायँ तो आप नगर पहुँच जायेंगे। उस नगर का नाम है ‘आलोकनगरी’-भागवत् धर्म की नगरी।

हमलोग हैं तस्कर—इसलिये आलोक नगरी में भागवत् धर्म नगरी में हमलोगों का प्रवेश निषिद्ध है।

इसलिये कहता हूँ, स्वधर्म का अनुसरण करो। और याद रखो स्वधर्म अनुसरण करना तुम्हारे लिये कष्टकर भी हो, और पर धर्म अनुशीलन करना सहजसाध्य भी हो, तब भी तुम अपने स्वधर्म अर्थात् भागवत धर्म का परित्याग मत करो। जो पर धर्म अनुवर्तन करते हैं, समझ रखो उनकी गति अवश्य ही जड़ाभिमुखी होती है। यदि क्लेश के हाथ से परित्राण चाहते हो, तो स्वधर्म का अनुवर्तन करते चलो।

(पटना, प्रातःकाल, २३ अगस्त, १९७८)

उत्तम, मध्यम और अधम

मनुष्य को मुख्यतः तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है— उत्तम, मध्यम और अधम । उन्हें ही अधम श्रेणी का मनुष्य कहा जाता है, जो किसी काम में हाथ लगाते ही नहीं । वे सोचते हैं, वे अति साधारण मनुष्य हैं, इसलिये वे कोई कार्य कर ही नहीं सकते । वह सब समय कार्य करने के पथ में क्या क्या बाधा आयेगी, वही सोचकर, बाधा के भय से भयभीत होते हैं और इसीलिये वे किसी काम में सहज ही हाथ नहीं लगाना चाहते ।

मध्यम श्रेणी का मनुष्य उन्हें कहेंगे जो किसी कार्य को शुरू करते हैं, किन्तु किसी समस्या के उपस्थित होने पर, वे उस कार्य से वैसे ही तत्काल हाथ खींच लेते हैं । वे सोचते हैं कि उनके चलने के पथ की बाधा है उत्तुंग हिमालय सदृश और इसलिए वे कार्य बन्द कर देते हैं । वे ऐसा सोचकर बैठे रहते हैं—कार्य में आगे चलने से उन्हें समस्या के सम्मुखीन होना होगा और वे समस्या का समाधान नहीं कर सकते । अर्थात् उन्हें अपने शक्ति-सामर्थ्य के सम्बन्ध में दृढ़ आत्मविश्वास नहीं होता ।

उत्तम श्रेणी के मनुष्य वे हैं जो समझ-बूझकर कार्य में हाथ लगाते हैं और उस कार्य की सुन्दर परिसमाप्ति के लिये दृढ़ निश्चय रहते हैं । लक्ष्य तक नहीं पहुँचने तक वे समस्त प्रतिकूल शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करते जाते हैं । ऐसी कोई समस्या है नहीं जिसका समाधान नहीं । ऐसा कोई कठिन कार्य हो नहीं सकता जो मनुष्य के सामर्थ्य के बाहर हो । वे किसी बाधा विपत्ति या चैलेज के सम्मुख होने के लिये प्रस्तुत रहते हैं । किसी भी प्रतिकूल परिस्थिति का मोकाबिला करने के लिये तैयार रहते हैं । बाधा कैसी भी क्यों न आये, वे अपने मूल उद्देश्य की पूर्ति के लिये सर्वदा दृढ़प्रतिज्ञ

रहते हैं । मैं चाहता हूँ, तुमलोग उत्तम श्रेणी के मनुष्य बनो । तुमलोग सर्वदा लक्ष्य के विषय में चिन्तन करो । और इसी तरह आध्यात्मिक प्रेरणा से उदुद्ध होकर अपनी नीति को, आदर्श को कठोर रूप से मानकर चलो ।

(पटना, २३ अगस्त, १९७८)

विशुद्ध बुद्धि

परमपुरुष यदि तुमसे पूछें कि तुम क्या चाहते हो, तो क्या कहोगे ? इस विषय में तुम्हें एक ही बात कहना उचित होगा-हे परम पुरुष, मैं सिर्फ तुम्हारा आशीर्वाद चाहता हूँ, जिससे मेरी बुद्धि-मेधा ठीक पथ पर चले । जो पाना था वह तो मैं पा ही गया हूँ, मनुष्य का जो अधःपतन होता है, वह इस बुद्धि के दोष से ही, त्रुटिपूर्ण बुद्धि के कारण ही ।

‘स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु’ । वेद में कहा गया है, इस विश्वब्रह्माण्ड के सृष्टिकर्ता सुमहान हैं । उनके पास मेरी एक ही प्रार्थना है और वह यह है-वे हमारी बुद्धि को शुभ के साथ संयुक्त रखें । मैं इतना ही चाहता हूँ और कुछ नहीं । संस्कृत में गायत्री छन्द में रचित श्लोक में कहा गया है—

“ॐ भूर्भुवःस्वः तत् सवितुर्वरेण्यं ।

भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।”

‘धीमहि’ अर्थात् हमलोग ध्यान करते हैं ; हमलोग क्यों उनका ध्यान करते हैं ? हाँ, ध्यान इसलिये करते हैं जिससे वे हमलोगों की मेधा को शुभत्व के पथ पर परिचालित करें ।

यह विश्वब्रह्माण्ड सप्तलोकात्मक है—भू, भवः स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य । इस सप्तलोक के सविता अर्थात् सृष्टि कर्ता है परम पुरुष । सविता माने पिता । कोई कोई भूल से कन्या का नाम रखते हैं ‘सविता’ । नहीं, लड़कियों का नाम ‘सविता’ रखना ठीक नहीं है ; क्योंकि ‘सविता’ माने पिता—यह पुलिङ्ग वाचक शब्द है । हमलोग सप्तलोक के स्रष्टा सगुण ब्रह्म के

वरेण्य ज्योति का ध्यान करते हैं । क्यों करते हैं ? हाँ, यह ही मैंने कहा है ध्यान इसलिये करते हैं, जिससे वे कृपा करके हमलोगों की बुद्धि को ठीक पथ पर परिचालित करें । ‘धी’ माने बुद्धि या मेधा । ‘नः’ माने हमलोगों को ‘प्रचोदयात्’ माने ‘शुभ पथ पर परिचालित करें ।

मनुष्य की ओर से यह प्रार्थना की जा सकती है—परम पुरुष जिससे मनुष्य की बुद्धि को विशुद्ध पथ पर परिचालित करें । बुद्धि यदि ठीक पथ पर चले तब प्राप्तव्य सब कुछ अधिगत होगा और बुद्धि यदि विपथगामी हो तो मनुष्य कुछ भी नहीं कर पायेगा । इतना ही नहीं, सब कुछ पाकर भी कुछ भी रख नहीं सकेगा ।

(पटना, २४ अगस्त, १९७८)

परमपुरुष का आविर्भाव

“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥”

प्रायः साढ़े तीन हजार वर्ष पहले श्रीकृष्ण का आविर्भाव हुआ था । उनका आविर्भाव एक विशेष युगसन्धि काल में हुआ था । मानवता उस समय एक अत्यन्त वेदनादायक परिस्थिति से होकर काल व्यतीत कर रही थी । महाभारत की रचना के माध्यम से उन्होंने उस युग की आर्त मानवता का परित्राण किया था । उन्होंने समग्र विश्व को आश्वासन देकर कहा था कि जब भी धर्म की ग्लानि दिखाई देगी, अधर्म का अभ्युत्थान होगा, उसी समय वे धराधाम पर अवतीर्ण होकर उनके परित्राण की व्यवस्था करेंगे ।

कृष्ण की इस तात्पर्यपूर्ण उक्ति को समझने की चेष्टा करो । यहाँ अर्जुन को ‘भारत’ कहकर सम्बोधित किया गया है । ‘भारत’ शब्द का अर्थ क्या है ? ‘भृ’ धातु ‘अल्’ प्रत्यय करने पर ‘भर’ शब्द पाते हैं । ‘भर’ माने जो भरण करता है । इसलिये ‘भरत’ माने जो जीव को खाद्य सामग्री जुटाकर भरण-पोषण करते हैं, जो मनुष्य की दैहिक पुष्टि और मानसिक प्रगति करा सकते हैं । साधारणतः उनचालिस वर्ष तक मनुष्य का शरीर वृद्धि प्राप्त करता है । उसके बाद इसका क्षय शुरू होता है । आध्यात्मिक क्षेत्र में जीवन के अन्तिम मुहूर्त तक मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति हो सकती है । जिस देश में इस प्रकार की बात होती है, उस देश का नाम है ‘भारतवर्ष’ । ‘वर्ष’ शब्द का अर्थ है भूमण्डल का एक भाग । साधारणतः ‘भारत’ शब्द के साथ देश के अर्थ में ‘वर्ष’ शब्द की संयुक्ति होती है ।

भारत में आने के पहले तक आर्यों को भौतिक अस्तित्व की रक्षा के लिये स्थान से स्थानान्तर चलना पड़ा था । भारत में पहुँचने पर भौतिक अस्तित्व

और मानसिक विकास इन दो समस्याओं का समाधान हो गया । इसलिये उन्होंने इस देश का नाम रखा ‘भारतवर्ष’ ।

आलोच्य श्लोक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ‘भारत’ कहकर सम्बोधित किया है । वे चाहते थे, इस देश के मनुष्य शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति का दायित्व ग्रहण करें । इसलिये उन्होंने अर्जुन को ‘भारत’ शब्द से सम्बोधित किया है ।

‘ग्लानि’ शब्द का अर्थ क्या है ? किसी वस्तु का जो स्वीकृत मानदण्ड है, उससे नीचे होने से उसे ‘ग्लानि’ कहेंगे । धर्म का जो स्वीकृत मानदण्ड है, उसकी अपेक्षा नीचे चले जाने से उसे कहेंगे धर्म की ग्लानि । जैसे मानो, राजमुकुट धारण का स्वीकृत स्थान है मस्तक । यदि कोई सिर पर मुकुट नहीं पहन पाता है, पैर में पहनता है तो उसे कहेंगे राजमुकुट की ग्लानि । इसीलिये श्रीकृष्ण ने हमलोगों को आश्वासन देकर कहा है, जभी धर्म की ग्लानि दीख पड़ेगी, अधर्म का अभ्युदय होगा, जब मनुष्य के सिर का मुकुट मस्तक की शोभा न बढ़ाकर पाँव की शोभा बढ़ाता है, और पाँव का जूता सिर की शोभा बढ़ाता है, तब वे धर्म को सगौरव स्वस्थान में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये तारक ब्रह्म के रूप में मर्त्य भूमि में जन्म लेंगे ।

छोटी छोटी लड़ाई को युद्ध कहते हैं । बड़े बड़े युद्ध को महायुद्ध (war) कहते हैं । युद्ध में अनेक समय धर्म की पराजय और अधर्म की जय होती है । इस दिशा में साधारण मनुष्य की भूमिका नगण्य हो जाती है, तब परम पुरुष स्वयं तारक ब्रह्म के रूप में मर्त्यलोक में आविर्भूत हो जाते हैं । और तब आकर मानव समाज को धर्म पक्ष और अधर्म पक्ष दो युद्धमान शिविर में प्रस्तुत कर देते हैं और युद्ध के शेष में धर्म की विजय होती है । इसलिये मनुष्य ! भयभीत मत होओ, अंधकार के बाद प्रकाश अवश्य ही आयेगा, अवश्य ही आयेगा ।

(पटना, २६ अगस्त, १९७८)

आविर्भाव का क्या उद्देश्य है ?

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है :-

“परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥”

कल जिस विषय प्रसङ्ग में मैंने दिग्दर्शन किया था आज उसी विषय को लेकर आलोचना करूँगा । ‘त्राण’ माने अव्याहति, ‘परित्राण’ माने ‘स्थायी अव्याहति’ या स्थायी निवृत्ति । ‘साधु’ किसे कहेंगे ? जिसके कार्य द्वारा अन्य लोग शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में उपकृत होते हैं, वे ही ‘साधु’ पद वाच्य हैं । ‘विनाशाय’ कहने से क्या समझा जाता है ? ‘नाश’ शब्द के पूर्व विभिन्न उपसर्ग योग करने से व्युत्पन्न शब्द समूह के अर्थ भी भिन्न भिन्न हो जाते हैं । ‘नाश’ शब्द का अर्थ है—सत्ता के मूल कारण में लौट जाना । ‘नाश’ शब्द के पूर्व ‘वि’ उपसर्ग लगाने से उसका अर्थ होगा उस प्रकार का नाश जिससे उस सत्ता का फिर पुनरुत्थान होगा नहीं । ‘दुष्कृताम्’ कहने से ठीक क्या समझा जाता है ? शब्द का अर्थ है ‘पातकी’ अर्थात् जो ‘पातक’ कर्म कर रहा है, ‘पातकी’ उसी को कहेंगे जो एक साथ पाप और प्रत्यवाय दोनों कर रहा है । पाप से प्रत्यवाय अधिक खराब है ।

‘संस्थापन’ शब्द का निर्गलितार्थ क्या है ? प्रत्येक वस्तु का एक स्वीकृत अर्थ या निर्दिष्ट स्थान रहता है । किसी वस्तु को पतित अवस्था से स्वमहिमा में ले जाने को कहते हैं ‘स्थापन’ । और उसी पुनःप्रतिष्ठित वस्तु का यथायथ तत्वावधान करने को कहते हैं ‘संस्थापन’ ।

‘सम्भवामि’ का अर्थ है सम्यक् रूप में जन्म ग्रहण करना । तुम लोगों ने सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की बात पहले ही सुनी है । यहाँ सम्यक् ज्ञान का अर्थ क्या है ? इस विश्व की मध्यमणि या चक्रनाभि जब एक

पाञ्चभौतिक आधार ग्रहण करता है उसी को कहा जाता है ‘सम्भवामि’ । आनन्दमार्ग के दर्शन में उसको कहते हैं—‘तारक ब्रह्म’ । भौतिक आधार ग्रहणकर वही भूमा सत्ता भावलोक में विचरण कर एक ही साथ अणुमन के अधिक्षेत्र के बाहर निर्गुण (uniquelified) निराकार और भावातीत (transcendental) सत्ता के साथ अपने को संयुक्त रखते हैं ।

इसके बाद आता है ‘युगे युगे’ शब्द । साधारणतः ‘युग’ शब्द का अर्थ समझा जाता है—एक विशेष समय की परिसमाप्ति । तुम लोग जानते हो—मानव अस्तित्व है एक आदर्श-प्रवाह । जब मनुष्य का अस्तित्व और सामाजिक मूल्य स्थूल से स्थूलतर हो जाता है, मनुष्य का जब उसी बद्ध परिवेश में श्वास रुद्ध प्राय हो जाता है (अर्थात् प्राण जाने लगता है) तब परम पुरुष अपने विशाल चिन्तन प्रवाह में परिवर्तन लाते हैं । मनुष्य के मान और मूल्यबोध का जब आमूल परिवर्तन संसाधित होता है, उसे ही कहते हैं एक युग । इस प्रकार के परिवर्तन का लाना साधारण मनुष्य के सामर्थ्य के बाहर है । एकमात्र तारक ब्रह्म ही इस प्रकार की विराट कर्मसूची को वास्तवायित कर सकते हैं । इसलिये कृष्ण कहते हैं, मैं विश्व के प्राणकेन्द्र या नियुक्तियस रूप में पुनर्जन्म ग्रहण करता हूँ ।

युग परिवर्तित होता चला है । तुम भी सर्वान्तःकरण से सदविप्र समाज का जल्दी गठन कर लो । द्विधाग्रस्त होकर रुक मत जाओ या प्रतिष्ठा के लिये भयभीत मत होओ । जय तुम लोगों की होगी ही ।

(पटना, २७ अगस्त, १९७८)

मानसिक भारसाम्य

वास्तव में मनुष्य सुख भी नहीं चाहता है, मनुष्य चाहता है मानसिक शान्ति, मानसिक स्वस्ति । प्रात्याह्निक जीवन में कितने सैकड़ों लोगों के सम्पर्क में मनुष्य आता है । बीच में किसी किसी के साथ संघर्ष भी हो जाता है । तब वह मानसिक शान्ति और स्वस्ति कैसे पायेगा ?

जो दूसरों के साथ अविचार करते हैं उन्हें दूसरों से अविचार सहना भी पड़ता है । जो अविचार करते हैं वे संग्रामकाल में मानसिक भारसाम्य खो बैठते हैं । जो दूसरों के प्रति अविचार नहीं करते हैं वे अन्याय के विरुद्ध संग्राम में मानसिक सन्तुलन रख कर सक्षम होते हैं । जो मानसिक शान्ति के अधिकारी हैं, उनका यह एक विशेष वैशिष्ट्य है ।

ईर्ष्या और घृणा मनुष्य की रात्रि की नींद को हराम कर देते हैं । जिसको तुम घृणा करते हो उस पर यदि विपत्ति भी आ जाय, तब भी उसके लिये तुम साधारणतः कोई व्यथा अनुभव नहीं करते हो । किन्तु व्यथा अनुभव करना उचित है । इतना ही नहीं, चरम पापी के लिये भी तुम्हारे हृदय में अनुकम्पा रहना उचित है । उसके लिये तुम्हारे हृदय में दुःखबोध-समवेदना पोषण करना उचित है ।

एक हिन्दी की कविता में है, एक बार मनुष्य से जिज्ञासा की गई - तुम्हारे मुखमण्डल पर विषण्णता का छाप क्यों है ? क्या तुम्हारा कुछ नुकसान हुआ है ? तुमने क्या किसी को कुछ दान दिया है ? उस आदमी ने जबाब में कहा—नहीं, मेरा कुछ भुलाया नहीं है, किसी को कुछ दान भी नहीं दिया है । मैं विषण्णता बोध इसलिए कर रहा हूँ कि मैंने देखा कि एक मनुष्य ने किसी दूसरे मनुष्य को दान दिया है । यह देखकर ही मेरा मुख विषण्ण है ।

“सोमी कहे सोमा से काहे मुँह मलिन
क्या कुछ गिर गया, काहू के कुछ दीन ?
सोमा कहे, न कुछ गिरो न काहू के कुछ दीन
दोसरे को दियो देखिके ताहि मुँह मलीन ।”

ये जो ईर्ष्या-विद्वेष ये वृत्तियाँ हैं वे मनुष्य के मन को अधःपतन में ढकेल देती हैं ।

इतना ही नहीं, जो मनुष्य चरम पतित या महापातकी है, जो चरम हतभाग्य है, उन्हें भी कभी भी घृणा नहीं करो यदि किसी से घृणा करो तो उससे तुम्हारी अपनी ही मानसिक और आध्यात्मिक अधोगति होगी । भगवान् बुद्ध कहते थे :—

“अक्कोधेन जिने कोधं असायुं साधुना जिने ।

जिने कदरीयं दानेन सच्चेन अलीकवादिनम् ।”

तुम्हारे लिए बुद्धिमानी है क्रोध को परिहार करना । अनैतिकता और मिथ्याचारिता के परिवेश में भी अपनी नीति से कभी विच्युत मत होओ । यदि तुम्हारी इस विषय में निपुणता हो तो तुम प्रतिपक्षी के साथ संग्राम में जययुक्त होओगे ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—“दुःख में उद्विग्न और सुख में उल्लसित मत होओ, सर्ववथा में मानसिक सन्तुलन बनाये रखो ।”

तुमलोग देखते हो कि आनन्दमार्ग का नाम-यश बढ़ रहा है । इस अवस्था में हमलोगों को क्या करना चाहिए ? हमलोगों को मानसिक भारसाम्य बनाये रखना चाहिए, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख की उपेक्षा कर आगे बढ़े चलेंगे । एक धनशाली वैश्य ने भगवान् बुद्ध को गाली दी । बुद्ध उससे अविचलित रहे । बुद्ध ने उस गाली को ग्रहण न कर उस निन्दा-कटूक्ति को उसी धनी वैश्य के पास छोड़ दिया ।

जब मैं जेल में था, कुछ लोगों ने मेरे विरुद्ध भी निन्दा-अपवाद किया था । आज वही निन्दक मेरी प्रशंसा करते हैं किन्तु मैं उनकी निन्दा-स्तुति से सम्पूर्ण रूप से उदासीन था और आज उनकी प्रशंसा का भी अभिलाषी नहीं हूँ ।

(पटना, २७ अगस्त, १९७८)

अन्याय के पथ में अनेक झंझट

मनुष्य को जो नहीं करना चाहिए, वह करना ही पाप है और जो करना चाहिए, वह नहीं करना ही प्रत्यवाय है। पाप और प्रत्यवाय दोनों मिलकर पातक होता है। चोरी करना अनुचित है, यह जानकर भी कोई अगर चोरी करता है, वह होगा प्रत्यवाय।

जितने दिनों तक पाप का प्रतिफल नहीं पाते हैं, उतने दिनों तक पाप को अच्छा कहकर ही मानते हैं। भारत के किसी शहर में धोबी को कपड़ा धोते तो देखा है न? देखोगे, वह जिन कपड़ों को धोता है, वह उसे माथा के ऊपर अधिक ऊँचा उठाता है। कपड़ा समझता है, वह मिट्टी से कितना ऊपर उठ गया है और हवा में उड़ रहा है, और थोड़ी देर आनन्द भी पाता है। किन्तु वह यह नहीं समझता है कि उसे जितना ही ऊपर उठाया गया है, उतने ही जोर से कपड़ा धोने के पत्थर पर धोबी उसे पटकेगा। जो पाप करते हैं वे सर के ऊपर उठे हुए कपड़े की तरह हैं। वे सोचते हैं—अरे! मिट्टी से ऊपर उठने से कितना आराम है! पाप में डूबकर मजा लूट रहा है और जब पाप का प्रतिफल भोगता है तब दुख-सागर में डूब मरता है, धोबी के कपड़े की तरह।

‘स्वच्छ’ और ‘भद्र’ दोनों शब्दों में अर्थगत पार्थक्य है। ‘स्वच्छ’ माने अच्छा या परिष्कार साफ, जैसे स्वच्छ जल। ‘भद्र’ माने जो भीतर-बाहर दोनों ही ओर से अच्छा हो। जो भद्र है वे कुछ भी करने के पहले बहुत सतर्क रहते हैं। वे ठण्डे मस्तिक से विचार लेते हैं—उनकी क्रिया की प्रतिक्रिया क्या होगी? वे अच्छे कार्य करते हैं और करते रहते हैं यद्यपि वे अपने सत्कर्म के सत्फल उसी मुहूर्त नहीं पाते हैं। जितने दिनों तक वे सत्कर्म का सत्फल नहीं पाते, उतने दिन वे कर्मभोग करने में भी द्विधा-बोध नहीं

करते हैं और जिस मुहूर्त में भले कार्य के सुप्रतिफल की प्राप्ति का आरम्भ हो जाता है, तब सिर्फ आनन्द और आनन्द ही प्राप्त करते हैं।

असत्कर्म करने में मनुष्य को अच्छा लगता है, किन्तु असत्कर्म का एक बार भोग शुरू हो जाने पर सिर्फ दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है। असत् मनुष्य प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बिना टिकिट खूब आराम से भ्रमण करता है। रेलवे को धोखा देकर वह मजा लूटता है और जो सत् मनुष्य है, वह द्वितीय श्रेणी का टिकिट खरीद कर अत्यन्त असुविधा से भ्रमण करता है। असाधु यात्री मजा लूटता है ठीक ही, किन्तु स्वल्पकाल के लिए। जब टिकिट-परीक्षकों का दल आकर उन्हें पकड़ता है या उन्हें बन्दी बनाता है, अथवा जुर्माना करता है, तब लज्जा से उसका सर नीचे हो जाता है। किन्तु सत् मनुष्य यद्यपि गरीब हैं ससम्मान अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच जाते हैं। असाधु यात्री को अन्त में दुःख भोगना पड़ता है। सत् यात्री सत् जीवन यापन करते हैं और जो कुछ है उसीसे सन्तुष्ट रहते हैं। असाधु मनुष्य घूस लेते हैं और नाना अपकर्म में लिप्त रहते हैं। वे आयकर में धोखा देकर अपने लिए प्रकाण्ड निवास-भवन निर्माण कर लेते हैं, किन्तु अन्त में आयकर विभाग के पदाधिकारी लोग आकर एक दिन उनके घर पर छापा मारते हैं और आयकर छिपाने तथा असदुपाय से धन-सम्पत्ति संग्रह के विरुद्ध उनके ऊपर मुकदमा दायर करते हैं। अन्त में उन्हें जेल की सजा भोगनी पड़ती है।

इसलिए पाप करने के पहले मनुष्य को विचार कर देख लेना उचित है कि उसकी क्या विरूप प्रतिक्रिया होगी—उसी मुहूर्त में या परवर्ती काल में। अच्छा कार्य करने से हो सकता है प्रारम्भ में कष्ट हो किन्तु अच्छा कर्म का प्रतिफल अवश्य अच्छा होगा।

सत्कर्म करो किन्तु उद्धतता या मिथ्या अहमिका त्याग करो। समझ रखो तुम्हारी उद्धतता या मिथ्या अहंकार आनन्दमार्ग के लिए क्षतिकर हो सकता है।

(पटना, २८ अगस्त, १९७८)

सम्यक् संकल्प

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रचारित अष्टशील का अन्यतम शील है—‘सम्यक् सङ्कल्प’ ।

सम्यक् सङ्कल्प के व्यतिरेक मनुष्य ठीक पथपर नहीं चल सकता, तथा निर्दिष्ट गन्तव्यस्थल पर नहीं पहुँच सकता । ठीक तरह से चलने के लिए और यथायथ उन्नति करने के लिए मनुष्य के लिए सम्यक आदर्श और सम्यक् सङ्कल्प अपरिहार्य है । सुदृढ़ आत्मप्रत्यय के साथ मनुष्य जब अपने को अपने लक्ष्य में प्रतिष्ठित करता है, उसी को सङ्कल्प कहते हैं ।

गौतम सिद्धार्थ जब बोधि ज्ञान लाभ के लिये साधना में बैठे तब उनके सामने कोई सुनिर्दिष्ट लक्ष्य नहीं था; उनके मन में था नाना द्विधा-संशय । इतना ही नहीं, वे वास्तव में क्या चाहते हैं, उस विषय में वे दृढ़निश्चित नहीं थे । किन्तु परवर्ती काल में जब वे गम्भीर ध्यान में बैठे, (सुजाता के द्वारा दिया हुआ खीर खाने के बाद), उन्होंने वज्रकठोर सङ्कल्प लिया । उन्होंने अपना लक्ष्य स्थिर किया और एक दृढ़ सङ्कल्प के साथ अपने लक्ष्य तक पहुँचने की इच्छा की । उन्होंने सङ्कल्प लिया कि जब तक वे अपने चरम आध्यात्मिक उपलब्धि को प्राप्त नहीं करते, उतने दिन ध्यानासन से एक बाल के बराबर भी इधर-उधर नहीं हिलेंगे, चाहे उनका शरीर रहे या नहीं रहे । और इसीलिए वे अपने लक्ष्य तक उपनीत हो सके थे ।

“इहासने शुष्यते मे शरीरं, त्वगस्थिमासं प्रलयञ्च यातु ।

अप्राप्य बोधिं बहु कल्प दुर्लभां, नैवासनात् कायरतश्चलिष्यति ॥”

मनुष्य का सुदृढ़ सङ्कल्प ही उसे महान् बना देता है । सुदृढ़ सङ्कल्प के कारण एक अति साधारण मनुष्य भी असाधारण व्यष्टित्व प्राप्त करता है ।

इसलिए लक्ष्य तक पहुँचने के लिए, यदि तुम्हारा वज्रकठोर सङ्कल्प हो, तो तुम भी महान हो सकते हो । याद रखो इस वज्रकठोर सङ्कल्प के व्यतिरेक जीवन में कुछ भी महत् प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

(पटना, २९ अगस्त, १९७९)

पाहि मां नित्यम्

“असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

मृत्योर्मांमृतं गमय आविरार्मवैधि ॥”

“रुद्र, यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ।”

ऋषि कहते हैं—मुझे असत् से सत्य की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मरणशीलता से अमृतत्व की ओर ले चलो ।

श्लोक का अर्थ समझने के पहले श्लोक में व्यवहृत शब्दों का यथार्थ तात्पर्य समझने की चेष्टा करो । सर्वप्रथम ‘असत्’ और ‘सत्य’ दो शब्दों का व्यवहार किया गया है । ‘असत्’ का क्या अर्थ है ? जो परिणामी है, जो परिवर्तन के मध्य से होकर बढ़ चलता है, इसीलिए वह ‘असत्’ है । यह असत् मनुष्य को शाश्वत सुख नहीं दे सकता । इसीलिए हमलोग इस परिवर्तनशील जगत् को एकान्त रूप से पाने की चेष्टा भी नहीं करते हैं । क्योंकि यह नित्य विवर्तनशील जगत् सुख के बदले मनुष्य को दुःख ही देता है । हमलोगों का क्षणिक सुख दूसरे मुहुर्त में ही निदारुण दुःख में परिणत हो जाता है । इसीलिए जो अपरिणामी है, जो कभी भी परिवर्तित नहीं होता, वही है सत् या सत्य ।

जहाँ तमसा है, जहाँ अन्धकार है, समझना होगा वहाँ आध्यात्मिकता नहीं है । इसीलिए ऋषि प्रार्थना करते हैं—मुझे असत् से सत् की ओर, तमसा से ज्योति की ओर ले चलो । विवर्तन के मध्य होकर शिशु, वार्धक्य में उपनीत होता है और इस विवर्तन का शेष चरण है मृत्यु । जो परिवर्तन सापेक्ष है वही मृत्यु है । इसीलिए ऋषि मृत्यु से अमृत की ओर परिचालना के लिए परमपुरुष के पास प्रार्थना करते हैं ।

याद रखो, अकल्याण की वार्ता लेकर किसी सत्ता का आगमन हुआ, उसे

कहते हैं “प्रादुर्भाव” । किसी का प्रादुर्भाव हुआ है, उसका माने ही है—वह मनुष्य के लिए अकल्याण-अमङ्गल को लाया है । इस प्रादुर्भाव का विपरीत शब्द है ‘आविर्भाव’ । आविर्भाव, कल्याण के साथ, शुभ के साथ ओत-प्रोत रूप से जुड़ा है । आविर्भाव हठात् होता है । इसीलिए मङ्गलमय किसी संकेत या सूचना को आविर्भाव कहा जाता है । ऋषि प्रार्थना करते हैं, ‘मुझमें तुम्हारा आविर्भाव हो ।’

जो मनुष्य को क्रन्दन कराते हैं, रुलाते हैं, वे ‘रुद्र’ हैं । मनुष्य जब अल्प परिमाण में रोता है उसे कहते हैं—‘रोदन’ और जब उच्चस्वर में रोता है उसे कहते हैं ‘क्रन्दन’ । वैसे ही है—मृदु हास्य तथा हास्य । परम पुरुष मनुष्य को सुख या दुःख देकर रोदन कराते हैं, इसलिए उन्हें रुद्र कहते हैं । सदाशिव के क्षेत्र में आविर्भाव घटित हुआ, क्योंकि वे चिरकल्याणमय सत्ता हैं । क्योंकि शिवजी को हैं तीन आँखें तथा पाँच मुख, इसीलिए उन्हें कहा जाता है ‘त्रिनेत्र और पञ्चवक्त्र’ । उनके बाँयीं ओर जो मुख है वह वामदेव है और चार मुख है कालाग्नि, कल्याणसुन्दर, ईशान और दक्षिणेश्वर । शिव का वामदेव रूप, विषय-वामदेव रूप विषयगामी मनुष्य को दण्ड देता है । दक्षिणेश्वर रूप से जीव पर चोट पहुँचाते हैं और सतर्क करते हैं । कालाग्नि रूप से वे जीव के शुभाशुभ कर्म के फलस्वरूप तथा तज्जनित दण्ड के सम्बन्ध में अवहित कर देते हैं और कल्याण सुन्दरम् के रूप में वे जीव के साथ सिर्फ स्नेहपूर्ण व्यवहार करते हैं । ईशान के रूप में वे मनुष्य को मीठी भाषा में उसके दोष-त्रुटि को दिखा देते हैं और अल्पस्वरूप दण्ड विधान करते हैं । ऋषि ने प्रार्थना की है—‘हे रुद्र, तुम्हारा जो दक्षिण मुख है उसके द्वारा अर्थात् दक्षिणेश्वर के रूप में मेरी रक्षा करो ।’

परमपुरुष मनुष्य को सुख-दुःख दोनों ही देकर रुलाते हैं । सुख के समय भी मनुष्य की आँखों के बाह्य प्रान्तर से अश्रुपात होता है, जिसे आनन्दाश्रु कहते हैं । फिर, दुःख में भी मनुष्य की आँखों के अन्तर्प्रान्त से अश्रुपात होता है, जिसे शोकाश्रु कहते हैं । इसीलिए शिव हैं “पञ्चवक्त्र” ।

(पटना, अगस्त, १९७८)

गोप कौन हैं ?

मनुष्य साधारणतः बड़े ही स्थूल भाव से जप क्रिया करता है । कहा जा सकता है कि उनकी वह जप-क्रिया जैसे तोता पक्षी की बात करने जैसी है । तोता पक्षी बिना माने समझे हुए किचिर मिचिर करके बहुत कुछ ही बोलता है । उसी तरह से जिनके अन्तर में ईश्वरनिष्ठा या आध्यात्मिक चेतना नहीं है, उनकी जप-क्रिया ही अर्थहीन है, ठीक वैसे ही अर्थहीन है जैसे तोता पक्षी का बोलना । जहाँ पर आध्यात्मिक भावना नहीं है, जहाँ पर जप-क्रिया का आभ्यन्तरीण स्वगत अभिभावन नहीं है वहाँ पर जपक्रिया एकान्त निरर्थक है ।

जप-क्रिया का उद्देश्य है मन के बहिर्मुखी भाव को अन्तर्मुखी करना, मन की समस्त वृत्तियों को अवांछित बहिर्गमिता से रक्षा करके उसकी सामूहिक शक्ति को भूमाचैतन्य की ओर परिचालित करना । जहाँ पर इस भूमाचैतन्य के प्रति कोई प्रेम नहीं है, वहाँ पर चिन्तनशक्ति को जीवन के परम ध्येय के विचार से ग्रहण किया नहीं गया है ; वहाँ पर समस्त मानसवृत्तियों को भिन्न पथ में परिचालित करना अर्थहीन है, कारण वे तो परमचैतन्य की ओर परिचालित नहीं हो रहे हैं ।

ध्यान क्रिया का अर्थ हुआ वाहिक सत्ता से मानसवृत्ति-समूह को प्रत्याहार करके उन प्रत्याहृत मानस वृत्तियों को एक की ओर, अद्वितीय परमसत्ता की ओर, परिचालित करना ।

जहाँ पर परमसत्ता के प्रति कोई आन्तरिक प्रेमभाव नहीं है, वहाँ पर परमपुरुष के प्रति मन कैसे जाएगा ? इसलिए ईश्वर-प्रेम नहीं रहने पर ध्यान क्रिया भी निरर्थक हो जाती है ।

‘ध्यान’ शब्द आता है ‘ध्या’ धातु से, जिसका मतलब हुआ मानसवृत्तिसमूह को प्रत्याहार करके परमपुरुष की ओर ले चलना । उसीसे

वृहत् के प्रति अनुराग या आकर्षण न रहने पर किसी को ध्यानसिद्धि हो नहीं सकती । बाद में परमपुरुष के प्रति यदि किसी को जरा सी भी अनुरक्ति रहे, अधिक न हो, बहुत थोड़े परिमाण में भी परानुरक्ति रहे, तब भी वह ईश्वर को पा जाता है । इसीसे वे सभी बुद्धिमान मनुष्य धर्म-जीवन में चाहे सुप्रतिष्ठित हों या न हों—वे ध्यान-क्रिया या जप-क्रिया में निपुण हों या न हों, योग या अन्यान्य दिव्य गुण-ज्ञान में सुदृढ़ हों यह न हों, वे नाक्षत्रविद्या में निपुण रहें या नहीं रहें, उनमें गुरुभक्ति रहे या न रहे, वे जप या ध्यान क्रिया के तात्पर्य के सम्बन्ध में अवहित हों या न हों—किन्तु वे यदि पराभक्ति के अधिकारी हों, उस क्षेत्र में वे अवश्य ही ध्यान के ध्येय की प्राप्ति करेंगे । परवर्ती क्रम में वह उन्हीं के प्रेम में ही उन्नीत होता है, जिस स्तर में वह होता है—मैं कुछ पाने की आशा में परमपुरुष से प्रेम नहीं करता—मैं परमपुरुष से प्रेम करता हूँ इसलिए कि उनसे प्रेम कर मैं आनन्द पाता हूँ । और अन्त में भक्त अनुभव करता है—मैं स्वयं आनन्द पाऊँगा, इसलिए उनसे प्रेम नहीं करता हूँ, उनसे प्रेम करता हूँ कारण इस प्रेम से वे आनन्दित होंगे । यह जो शेषोक्त पर्याय का प्रेम है, वह सम्पूर्ण रूप से एकतरफा (unilateral) है, वह पारस्परिक या reciprocal नहीं है । जहाँ पर पारस्परिक प्रेम की बात है, उसे मैं भक्ति नहीं कहूँगा, कहूँगा केवलमात्र व्यावसायिक विनिमय । अर्थात् पैसा फेंकों तमाशा देखो । अर्थात् उस उच्चतम भक्ति के क्षेत्र में भक्त ईश्वर को सभी कुछ दे देते हैं, बदले में कुछ पाने की आशा भी नहीं रखते, अर्थात् भाव है कि ‘मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, अपने स्वार्थ के लिए नहीं, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, कारण है, मैं चाहता हूँ मेरे उस प्रेम से तुम आनन्द पाओ । अतएव प्रेम के अन्तिम पर्याय में भक्त की एकात्मिक इच्छा है परमपुरुष को आनन्द विधान करने की ।

संस्कृत भाषा में ‘गुप्’ धातु का अर्थ हुआ आनन्द देना या आनन्द पाना और जो परमपुरुष को आनन्द देने के लिए उस प्रकार के प्रेम का जागरण करते हैं, वे हैं—‘गोपः’, ‘गोपायते यः सः गोपः ।’ अर्थात् जो श्रीकृष्ण के आनन्द की व्यवस्था करते हैं, वे हैं गोप ।

(पटना, ३१-८-७८)

भक्ति

भक्तिशास्त्र में कहा गया है :-

“ भक्तिर्भगवतो सेवा भक्तिः प्रेमस्वरूपिणी ।

भक्तिरानन्दरूपा च भक्तिः भक्तस्य जीवनम् ॥ ”

भक्ति कहने से क्या समझते हो ? ‘भज’ धातु के उत्तर में ‘क्तिन्’ प्रत्यय करके ‘भक्ति’ शब्द निष्पन्न हुआ है । ‘भज्’ धातु का अर्थ हुआ अन्तर के प्रेमभाव से ईश्वर को आह्वान करना अर्थात् भीतर की चरम आकुति या एकान्तिक एषणा से उनको ही जीवन का ध्रुव लक्ष्य मानकर आह्वान करने का ही नाम है ‘भक्ति’ । दूसरे तरह से कहने पर मानसिक सभी अभिव्यक्तियों का प्रत्याहार करके एकान्तिक निष्ठा और अनुरक्ति लेकर परम पुरुष की ओर अनन्यचित्त से आगे बढ़ते जाने का नाम ही है भक्ति ।

‘शास्त्र’ कहने पर क्या समझा जाता है ? “शासनात् तारयेत् यस्तु सः शास्त्रः परिकीर्तितः” । जो मनुष्य की सर्वात्मिक विमुक्ति के लिए अनुशासन के माध्यम से नियन्त्रण करता है वही शास्त्र है । यदि अभिभावकगण सन्तान-सन्ततियों को केवल शासन के लिए ही शासन करें, तो सन्तान प्राप्तव्यस्क हो जाने पर, जब वे उसे समझने लगते हैं, तब वे पिता-माता के साथ विरुद्धाचरण करते हैं, किन्तु यदि वही अभिभावकों का शासन सन्तान की कल्याण के उद्देश्य से परिचालित होता है, तब उस शासन को कहते हैं - ‘हितार्थे शासन या अनुशासन ।’

‘भगवान्’ शब्द का तात्पर्य क्या है ? ‘भग’ शब्द के उत्तर ‘भुप्’ प्रत्यय लगा करके होता है ‘भगवत्’, प्रथमा के एकवचन में ‘भगवान्’ । भगवान् कहेगे उनको जो निम्नोक्त छः प्रकार के ‘भग’ अर्थात् दिव्य शक्ति का अधिकारी हों—ऐश्वर्य, वीर्य या प्रताप, यशः, श्री, ज्ञान और वैराग्य ।

ऐश्वर्य :- ‘ऐश्वर्य’ माने ऐशीशक्ति, संस्कृत में जिसे विभूति भी कहते हैं । ‘विभूति’ शब्द का दो अर्थ है—‘राख’ या ‘भस्म’ और ऐशीशक्ति । यहाँ पर ऐशीशक्ति कहने से आठ प्रकार की सिद्धि समझी जाती है, यथा—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, वशित्व, ईशित्व तथा अन्तर्यामित्व । अंग्रेजी भाषा में ऐश्वर्य कहने से समझा जाता है occult power (ऑकल्ट पावर) अर्थात् जिसे आध्यात्मिक अनुशीलन (cult) द्वारा अर्जन किया जाये ।

वीर्य :- जो इस विशेष ‘भग’ अर्थात् वीर्य के अधिकारी होंगे, उन्हें अपने प्रताप के द्वारा स्वयं को प्रतिष्ठित करना होगा । जो धर्म भूमि पर प्रतिष्ठित नहीं हैं वे भगसम्पन्न सत्ता के भय से भीत-संन्यस्त रहते हैं और जो धार्मिक हैं, इनके सन्निकट से सभी प्रकार की सहायता पाते रहते हैं ।

यशः :- भगवान् के आविर्भाव के साथ ही साथ दो चीजें होने लगती हैं । एक तरफ जैसे उनके पक्ष में रहते हैं अजस्र निष्ठावान समर्थक, वैसे ही अन्य तरफ रहते हैं बहुसंख्यक कट्टर शत्रु । सम्पूर्ण मानव समाज ही स्पष्टतः दो परस्पर विरोधी शिविर में विभक्त हो जाते हैं—नीतिवान् और दुर्नीतिपरायण । समाज के सभी मनुष्य किसी न किसी शिविर में योगदान करते हैं । अनिवार्य रूप में समाज में आता है मेरुकरण । एक पक्ष को यदि कहें उत्तर मेरु, तो अन्य पक्ष को कहना होगा दक्षिण मेरु । एक तरफ जैसे वे अर्जन करते हैं प्रभूत यशः, प्रतिष्ठा और साफल्य, अन्य तरफ वैसे ही होती है तीव्र समालोचना और निन्दा ।

भगवान् शिव और कृष्ण के समय भी ऐसा ही हुआ था । तत्कालीन समाज स्पष्टतः द्विधाविभक्त हो पड़ा था । कठोर नैतिक बल से बलवान मनुष्य हो गए थे शिव भक्त ; कृष्ण भक्त और नीति धर्मविवर्जित मनुष्य हो गये थे शिव और कृष्ण के घोर विरोधी । इस प्रसंग में सर्वदा ही स्मरण रखो कि सब समय धर्म की जय और अधर्म की पराजय अवश्वम्भावी है ।

श्री :- ‘श्री’ शब्द का अर्थ हुआ आकर्षण । ‘श’, ‘र’ और ‘ई’, इन त्रयी का समन्वय ही ‘श्री’ है । ‘श’ है रजोगुण का द्योतक ; ‘र’ कर्मशक्ति का द्योतक है और ‘ई’ हुई स्त्रीलिंग वाचक । इसीसे ‘श्री’, माने जिनके मध्य

F.N आकल्ट पावर, विभूति, सिद्धि समानार्थक समझा जाना चाहिए ।

में रजोगुणी शक्ति के साथ कर्मषणा का समन्वय घटित हुआ है ।

ज्ञान :- 'ज्ञान' शब्द का अर्थ है, आत्मज्ञान । आत्मज्ञान या पराज्ञान ही वास्तविक ज्ञान पदवाच्य है और पराज्ञान या आत्मज्ञान के अतिरिक्त जो कुछ ज्ञान है वह कभी भी ज्ञान पदवाच्य नहीं है । वह है ज्ञान का अवभास । पुस्तक पढ़ कर इस आत्मज्ञान या पराज्ञान की प्राप्ति नहीं होती । मानव मन की आशा-आकांक्षा, वृत्ति-प्रवृत्ति को परमपुरुष में समूहित कर सकने पर ही आत्मज्ञान मिलता है, कारण परमपुरुष हुए ज्ञानमूर्ति ।

वैराग्य :- 'वैराग्य' शब्द का अर्थ हुआ जागतिक विषय में अनासक्ति । संस्कृत भाषा में वि-रञ्ज्+धृङ् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है 'वैराग' शब्द, जिसका भाववाचक विशेष्य हुआ 'वैराग्य' । 'रञ्ज्' धातु का अर्थ हुआ रंग लगाना । 'प्रभातरञ्जन्' माने जो प्रभात को रञ्जित करें । इस विश्व की सत्ता ही स्पन्दनात्मक है तथा उनका एक अपना रंग भी है और प्रत्येक सत्ता के उस विशेष रंग के कारण ही अणुमन रञ्जित हो जाता है । इसीसे मनुष्य को किसी वाह्यिक सत्ता के रंग में रञ्जित होना नहीं चाहिए ।

कहा गया है, "भक्तिर्भगवतो सेवा" । भक्ति माने भगवान की सेवा करना । यहाँ पर भगवान माने जिनमें पूर्वोक्तलिखित छः 'भग' या दैवी गुण निहित हैं ।

"भक्तिः प्रेमस्वरूपिणी" अर्थात् भक्ति हुई विशुद्ध प्रेमस्वरूप । अर्थात् 'परमपुरुष को छोड़कर मैं अन्य कुछ नहीं चाहता, ऐसा कि परमपुरुष मुझे अन्य कोई जागतिक वस्तु देना भी चाहेंगे, तब भी उसे नहीं लूँगा' ऐसा भाव ।

"भक्तिरानन्दरूपाच" भक्त की एकान्त इच्छा ही है परमपुरुष का सन्तुष्टि विधान, उनको ही आनन्द देना । ऐसा कि स्वयं को आनन्द लाभ के लिए भी वह परमपुरुष की सेवा नहीं करेगा ।

"भक्तिः भक्तस्य जीवनम्"—अर्थात् भक्ति हुई भक्त का जीवन । यह उक्ति अत्यधिक तात्पर्यपूर्ण है । मछली जैसे जल के बिना जीवित नहीं रह सकती, भक्त भी उसी तरह भक्ति को छोड़कर जीवित नहीं रह सकता । जल से मछली को निकाल लो, देखोगे मछली तुरन्त मर जाएगी । उसी प्रकार से

भक्त के अस्तित्व से भक्ति को हटा लो, देखोगे भक्त का अस्तित्व शीघ्र ही विलोप हो गया है । इसीसे कहा गया है, भक्ति ही भक्त के जीवन की सार वस्तु है ।

तब मनुष्य के जीवन में सबसे मूल्यवान् वस्तु क्या है ? उसके उत्तर में मैं कहूँगा—अवश्य ही भक्ति है । उस भक्ति को जिसने प्राप्त कर लिया है, उसने सब कुछ पा लिया, उसको पाने के लिए कुछ भी नहीं रह गया । भक्त को केवल करते जाना होगा परमपुरुष की सेवा ।

अब इस सेवा का यथार्थ रूप क्या है ? परम पुरुष के सृष्ट जगत् की सेवा करना ही वास्तविक सेवा है । हम वास्तव जगत् में लक्ष्य करते हैं, जब कोई अभिभावक देखते हैं कि कोई सेवक उनके पुत्र-कन्या की सेवा कर रहा है, तब वे उस सेवक के प्रति सन्तुष्ट होते हैं । ठीक उसी प्रकार से परम पुरुष के सृष्ट जीव जगत् की, विशेष कर मनुष्य की सेवा करना ही परम पुरुष को सन्तुष्ट करने का सबसे अधिक सहज उपाय है । अतीत में तुम क्या थे, क्या करते थे, उन सब बातों को भूल कर इस शुभ मुहूर्त से मानवता की सेवा के लिए स्वयं को उत्सर्ग करो । परमपुरुष उससे सन्तुष्ट होंगे और परम पुरुष की उस सन्तुष्टि में निहित है मानव जीवन की परमा सम्प्राप्ति की चाभी ।

(पटना, १ सितम्बर, १९७८)

सवितृ ऋक्

वैदिक प्रार्थना में है :-

“असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

मृत्योर्मा मृतामृगमय आविराविमयैधि ॥”

श्लोक का अन्तर्निहित तात्पर्य हुआ परम पुरुष के समीप प्रार्थना करना जिससे वे मानव मन को शुभत्व की ओर, भूमानन्द की ओर परिचालना करें । मुख्य बात हुई, मन को सत्यपथ से कल्याण के पथ पर परिचालित करना होगा । मनुष्य की चिन्तन-भावना अगर शुद्ध हो, पवित्र हो, तब सब कुछ शुद्ध और पवित्र होगा ही । इसीसे परमपुरुष के यहाँ माँगने योग्य एक वस्तु है और वह है—‘हे परमपुरुष, तुम मेरे मन के समस्त कलुष, कल्मष दूर कर दो । मेरे मन को शुद्ध कर दो । मेरे मन को एक शुद्ध पवित्र आधार के रूप में बना दो ।’

मैंने तुम लोगों को यह भी कहा है कि मनुष्य गायत्री मन्त्र से भी ऐसी वस्तु को माँगता था । हाँ, यह जो वैदिक मन्त्र है इसे बहुत से लोग भूलवशतः गायत्री मन्त्र कहते हैं । वास्तव में इसका नाम सवितृ ऋक् है । ऋग्वेद हुआ पृथ्वी का सर्व प्राचीन धर्मशास्त्र । यह ऋग्वेद कई एक भाग में विभक्त है, इस एक एक भाग को मण्डल कहते हैं, फिर एक एक मण्डल कई सूक्तों में विभक्त हैं, पुनः एक एक सूक्त में रहते हैं कितने ऋक् । तब बात समझ में आती है यह कि ऋग्वेद का एक एक श्लोक है एक एक ऋक् और इसीसे सामग्रिक रूप में वेद का नाम है ऋग्वेद । यह जो विशेष वैदिक मन्त्र है जिसे साधारण लोग भूल से गायत्री मन्त्र कहते हैं यह हुआ ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के बासठवें सूक्त का दसवाँ ऋक् । ऋग्वेद की साधारणतः रीति हुई कि परमपुरुष को जिस शब्द से सम्बोधन किया जाता है, उसी नियन्त्रक शब्द को पकड़ कर संश्लिष्ट ऋक् का नामकरण हुआ करता है । अभी हमारे

आलोच्य वैदिक ऋक् में परमपुरुष को ‘सविता’ शब्द से सम्बोधन किया गया है । अतएव ऋक् का नाम ‘सवितृ ऋक्’ है ।

वेद के रचनाकाल में मनुष्य लिखना-पढ़ना नहीं जानता था । कारण उस समय तक लिपि का आविष्कार नहीं हुआ था । गुरु के मुख से वैदिक ऋचाओं को सुनकर कण्ठस्थ कर लेते थे । संस्कृत भाषा में कान को कहा जाता था ‘श्रुति’ । इसीसे वेद का एक प्रतिशब्द हो गया ‘श्रुति’ । शिष्यार्थी या शिष्यगण लिपि के साथ परिचित न होने से वेद पाठ कर नहीं पाते थे । मजे की बात यह है कि संस्कृत भाषा की अपनी कोई लिपि नहीं है । विभिन्न समय में विभिन्न स्थानीय लिपि में वेद लिखा जाता आया है । सवितृ ऋक् में कहा गया है—

“ॐ भू-भुवः स्वः ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं

भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ ॥”

ऋक् एक विशेष छन्द में रचित है । छन्द का नाम है गायत्री । वेद में स्वीकृत छन्द है— गायत्री, उष्णिक, त्रिष्टुप, अनुष्टुप, वृहति, जगति और पङ्क्ति । गायत्री छन्द में पङ्क्तियों की संख्या तीन है और प्रति पङ्क्ति में रहेगी आठ मात्रा । जिस ऋषि ने मन्त्र की रचना की थी, उन संश्लिष्ट ऋषि को कहा जाता था मन्त्रद्रष्टा ऋषि । जिस छन्द में ऋक् रचित होता, वही छन्द होता मन्त्र का मौलिक मन्त्र । मन्त्र की प्रथम पङ्क्ति की परवर्तीकाल में संयोजना की गई है । वह मूल मन्त्र के अङ्गीभूत नहीं है— वह अथर्व वेद से उद्धृत है । इसमें मुख्यतः तीन पङ्क्तियाँ हैं—

प्रथम पङ्क्ति—तत्सवितुर्वरेण्यम्

द्वितीय पङ्क्ति—भर्गो देवस्य धीमहि

तृतीय पङ्क्ति—धियो यो नः प्रचोदयात्

पहले ही कहा गया है प्रति पङ्क्ति में रहेगी आठ आठ करके मात्रायें । आलोच्य श्लोक के प्रथम पङ्क्ति में है सात मात्रा जो मूल नियम के विरुद्ध है । वैदिक नियमानुयायी जहाँ पर व्याकरण और छन्द के बीच में बेमेल होता है, वहाँ पर छन्द को समर्थन दिया जाता है,—व्याकरण को नहीं । इसीसे

छन्द के लिए उच्चारण होता है—“तत्-स-वि-तु-र-व-रे-णि-अं”। इस तरह अन्तिम की एक मात्रा ‘ण्यं’ को विभक्त कर दो मात्रा में ‘णि-अं’ किया जाता है।

अब यहाँ पर यह जो सवितृ ऋक् है, इसमें ऋषि किस प्रकार की प्रार्थना करते हैं ? ऋषि कहते हैं—हे परमपुरुष, तुम मेरे मन को, मेरे चिन्तन को, आनन्द की ओर परिचालित करो। यही है भावार्थ और प्रार्थना का निर्गलित अर्थ।

मन्त्र शुरू होता है ‘ॐ’ शब्द से। इस ‘ॐ’ शब्द का तात्पर्य क्या है ? जहाँ पर अभिव्यक्ति होती है, जहाँ पर कोई कुछ क्रिया होती है, वहाँ पर एक पारमार्थिक क्रिया की क्रियागत् अभिव्यक्ति रहती है। मानो तुम पैदल चल रहे हो, चलने से एक खट् खट् की ध्वनि होती है। यह खट् खट् की ध्वनि, यह भी एक प्रकार की उसी अति जागतिक ध्वनि की खण्ड अभिव्यक्ति है। तुम हँसते हो, उसी हँसने के साथ साथ हा....हा....ध्वनि निकलती है। इसलिए जहाँ कोई कर्म या क्रियागत् अभिव्यक्ति रहती है, वहाँ रहेगी एक बीजात्मक ध्वनि। परम पुरुष की जो यह सृष्टि-लीला है, वह भी तो एक क्रिया है। और यह सृष्टि वे करते हैं मनोजगत् में ; वहिर्जगत् में नहीं। परम पुरुष के यहाँ वहिर्जगत् कहकर कुछ नहीं है। यह जो पाञ्चभौतिक जगत् है यह जीव के लिए बाह्यिक है, किन्तु परमपुरुष के लिए मानसाभ्यन्तरीण विषय है (internal phenomenon), बहुवचनात्मक Phenomena नहीं है ; एकवचनात्मक Phenomenon है, कारण परम पुरुष के यहाँ यह एक अखण्ड और अविभाज्य अभिव्यक्ति है।

यह जो सृष्टिमूलक ध्वनि है, इसका बीजमन्त्र हुआ ‘अ’। इसीसे ‘अ’ ध्वनि को तान्त्रिक वर्णमाला का प्रथम अक्षर कहकर माना गया है। हम जिसे अंग्रेजी में ‘अ’ (A) कहते हैं उसका हीब्रू या ग्रीक का पर्यायवाचक शब्द हुआ ‘alpha’। इस वर्णमाला का प्रथम अक्षर ‘अ’ और बीजमन्त्र का भी ‘अ’ ध्वनि एक है।

सृष्टि के बाद आता है पालन का प्रश्न। किसी वस्तु के संरक्षण की क्रियागत् अभिव्यक्ति का बीजमन्त्र ‘उ’ ध्वनि है। रक्षण, पालन और वर्द्धन—इन सबका बीजमन्त्र है ‘उ’ ध्वनि। मन ही मन कहीं कुछ सृष्टि करने के बाद

ऐसा एक स्तर आता है, जब मनुष्य अपने उस मानसिक अभिव्यक्ति को अथवा आलेख्य को अपने मनोजगत् में प्रत्याहार कर लेता है। परमपुरुष जब इस विश्व की सृष्ट वस्तुसमूह को अपने अन्दर संहरण कर लेते हैं, उस संहार क्रिया का बीजमन्त्र होता है ‘म’ ध्वनि।

तब हम देखते हैं ‘अ, उ, म’ ये तीन ध्वनियाँ हैं यथाक्रम में सृष्टि, स्थिति और संहार क्रिया का बीजमन्त्र। इसलिए हमारा आलोच्य सवितृ ऋक् है, शुरू होता है ‘ॐ’ ध्वनि देकर। स्रष्टा परमपुरुष ‘अ’ ध्वनि की सहायता से सृष्टि करते हैं, ‘उ’ ध्वनि की सहायता से वे सृष्ट जगत् का पालन करते हैं, पुनः ‘म’ ध्वनि की सहायता से ‘स्व’-सृष्ट विश्व जगत् को स्वीय मानस देह में प्रत्याहार कर लेते हैं। सृष्टिकर्ता अर्थात् Generator-के आद्यक्षर ‘G’, पालनकर्ता अर्थात् operator-के आद्यक्षर ‘o’ संहारकर्ता अर्थात् destroyer शब्द का आद्यक्षर ‘d’,—यह तीनों मिलकर ‘G-o-d’ अर्थात् God हैं।

यह जो सृष्टात्मक अभिव्यक्ति है, यह सप्तलौकिक या सप्तस्तरीय है किन्तु बृहत्तर परिभू में कहने से उन समस्त अभिव्यक्तियों को मुख्यतः तीन स्तरों में विभक्त किया जा सकता है। एक : आधिभौतिक ; दो : आधिदैविक ; तीन : आध्यात्मिक। सृष्टिकर्ता परमपुरुष हैं इन तीनों जगत् के ही सविता। अब यदि सब कुछ का स्रष्टा बोलकर गण्य होते हैं, तब हमारे इस मानव देह का भी स्रष्टा वे ही हैं, इस सूत्र से मानव मस्तिष्क का भी स्रष्टा वे ही हैं और जिस लिए वे स्रष्टा हैं, इसीसे उन्हें कहेंगे सविता। सविता का माने है स्रष्टा (creator), पिता (father)। हमारे इस पृथ्वी ग्रह का पिता हुए सूर्य। पुनराय हमारा यह जो ग्रह जगत् है, नक्षत्र जगत् है और उनके भिन्न भिन्न उपग्रह हैं, ये सभी कुछ के स्रष्टा हुए वही एक परमपुरुष अर्थात् समग्र सृष्टि की चक्रनाभि हैं परमपुरुष।

जिन परम सविता या भगदेव ने लोकात्मक महाजगत् की रचना की है, हम उन परमपुरुष की दिव्यज्योति का ध्यान करें। क्यों ध्यान करें ? जिससे वे हमें बुद्धि के चरम शुभत्व की ओर, चरम आनन्द की ओर परिचालित करें। तान्त्रिकी दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व मनुष्य उस परम सविता के यहाँ

प्रार्थना कर सकते हैं—'हे परमपुरुष, मेरी बुद्धि को, मेरी मेधा को आनन्द की ओर परिचालित कीजिए, जिससे मैं इस विश्व में महत् कुछ कार्य करके जा सकूँ' जब वह विधिवत् साधना करता जाएगा, किसी तरह की प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है ; प्रयोजन नहीं है, कारण वह तान्त्रिकी दीक्षा पा ही गया है ।

इस विश्व की प्रत्येक सत्ता उनकी ही ज्योति से ज्योतिर्मय है ; वह परम सविता ही सब कुछ को सृष्टि कर सकते हैं । स्थावर-जड़म निर्विशेष में उनसे आकर पुनः उनमें ही लीन हो जाते हैं । इसीसे हम क्यों उस परम सत्ता का ध्यान करेंगे ? इसलिए करेंगे कि जिससे वे हमारी बुद्धि को सत्यपथ में, शुभ पथ में, परिचालित करें ।

(पटना, २, सितम्बर, '७८)

चरम लक्ष्य

इस विश्व की जो कुछ भी अभिव्यक्तियाँ हैं, सभी ही स्पन्दनात्मक हैं । जो मौलिक है, जो वास्तव में सत्य है, वह भी स्पन्दनधर्मी है । केवल प्रपंच के क्षेत्र में ही यह बात प्रयोज्य नहीं ; चित्तानविक और अतिचित्तानविक स्तर के सम्बन्ध में भी यह बात समरूप में लागू है । देहस्थ विभिन्न कोष और इन्द्रिय के माध्यम से ये स्पन्दनात्मक अभिव्यक्तियाँ प्राणी सत्ता के संस्पर्श में आती हैं । ज्ञानेन्द्रियों के बीच में चक्षु के माध्यम से चेतना सत्ता की मूल्यवान् अभिज्ञता संचय होती है (ocular experience) अर्थात् चाक्षुसी नाड़ी के माध्यम से प्रत्यक्ष अभिज्ञता अर्जित होती है ।

प्रत्यक्ष जगत् में वर्ण (colour) या रंग की एक गुरुत्वपूर्ण भूमिका रहती है । जैसे, श्वेतवर्ण सत्वगुण का द्योतक है, रक्तवर्ण रजोगुण का द्योतक है और कृष्णवर्ण तमोगुण का द्योतक है । सात मुख्य नियन्त्रक वर्ण हैं और सात रंगों के मिलने से और मिश्रण से असंख्य मिश्रण की उद्भूति घटती है, किन्तु वह अनन्त नहीं है । यदि यह वर्णसमष्टि अनन्त होती, तब तो यह परिदृश्यमान विश्व ब्रह्माण्ड भी स्वाभाविक ढंग से अनन्त होता किन्तु वास्तव में यह प्रकाशमान विश्व विशाल होने पर भी अनन्त नहीं है । फिर, मैं कह सकता हूँ, प्रकृति की कलानैपुण्य की सहायता लेकर वही भूमासत्ता अजस्र स्पन्दन निर्गत करते जा रहे हैं । इसलिए कहा जाता है परमपुरुष स्वयं अवर्ण सत्ता होते हुए भी उनका सृष्ट जगत् बहुत वर्णात्मक है । वस्तुतः हमारा यह परिदृश्यमान विश्व उनका अजस्र बैचित्र्य लेकर प्राणी जगत् को आकर्षण करता चला जा रहा है ।

श्वेत कोई वर्ण नहीं है ; सर्ववर्ण का समाहार हुआ श्वेत । ठीक उसी तरह कृष्ण कोई वर्ण नहीं है । जहाँ पर वर्णहीनता या वर्णभाव है, वहीं पर

कृष्ण वर्ण है ।

क्रियाशीला प्रकृति अजस्र अभिव्यक्ति की सहायता लेकर एक मूलीभूता सत्ता 'एक' ही रह जाती है, किन्तु इस जागतिक वस्तु समूह में अनेक पारमार्थिक जगत् एकक सत्ता के द्वारा विधृत है, वस्तु जगत् संख्यागत् रूप में अगणित है । किन्तु प्रश्न हुआ, क्यों उन्होंने इस वर्णमय विश्व की सृष्टि की, क्यों ही इतना वर्णसमाहार, क्यों ही इतने वर्णवैचित्र्य की रचना की ! क्यों ही वे इस प्रकार की वैचित्र्यमय सृष्टि रचना करते जा रहे हैं ?

“वर्णानेकान निहितार्थो दधाति” । अभी यह जो वर्णमय विश्वब्रह्माण्ड है, वे सृष्टि करते जा रहे हैं, इस सृष्टि के पीछे जो मूल उद्देश्य निहित है, वह एकमात्र वे ही जानते हैं । अन्य कोई उसे जान नहीं सकता । तब हों, जो उनके एकदम निकट के लोग हैं अपने आदमी हैं, जो उनके एकान्त प्रिय और स्नेह के पात्र हैं, वे अवश्य ही उस गुप्त रहस्य को जानते हैं । ज्ञानी लोग उसे जानते नहीं हैं, जानते हैं केवल भक्तगण ही । एकमात्र भक्तगण उनके घनिष्ठतम और सान्निध्य में आते हैं और गुप्त रूप से उनके सभी गोपनीय तत्व को जान लेते हैं । कोई साधक यदि विश्व के यावतीय उत्सारण के मूल विन्दु में पहुँच जायें तब वे जान सकेंगे कि इन सभी के प्रारम्भिक विन्दु में हैं परमपुरुष और जो लोग उस तरंग के झूले में झूलते झूलते उनकी ओर अग्रसर होते चलते जा रहे हैं, वह तरंगराजि भी उत्सारित होकर आ रही है उन्हीं परमपुरुष से । फिर यह बात भी वह जान सकता है कि विश्व की यावतीय तरंग का प्रारम्भिक विन्दु भी वे ही हैं और यात्रापथ के अन्तिम विन्दु भी वे ही परमपुरुष हैं और विश्व में जो पुरुष सभी जीव के गतिपथ के प्रारम्भ विन्दु हैं तथा परमधाम हैं उनके प्रति मेरी एकान्त प्रार्थना है कि वे जिस प्रकार भी हो मेरी बुद्धि को महत् कल्याण के साथ, शुभत्व के संग में संयुक्त कर दें । जीव मात्र की यही प्रार्थना होनी उचित है ।

(पटना, ३ सितम्बर, १९७८)

प्रवचन - ३३

एको हि रुद्र

“एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थूर्य इमाल्लोकानीशत ईशानिभिः।

प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठते संयुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वाभुवनानि गोपाः ॥”

यहाँ पर प्रश्न उठता है, यह कि जो चरम सत्ता या परमपुरुष हैं वे क्या एक हैं या अनेक ? नियन्त सत्ता एक हैं या अनेक— यह अवश्य ही एक जटिल प्रश्न है । ऋषि कहते हैं, चरम नियन्त सत्ता अवश्य ही एक और अद्वितीय हैं— इसमें बहुत्व होने की कोई गुंजाइश नहीं है । अर्थात् वे परम सत्ता सर्वकाल ही एक और अद्वितीय रूप में विराजमान हैं । अतः अतीत में वे जिस तरह से थे भविष्य में भी उसी तरह से रहेंगे ।

इसके पहले भी मैंने तुम लोगों से कहा था कि 'रुद्र' शब्द का यथार्थ अर्थ हुआ, कि जो सत्ता जीव को रोदन कराते हैं । इस प्रसंग में मैंने यह भी कहा है कि क्रन्दन कराने का माने ही शोकाश्रु विसर्जन करना नहीं है । मनुष्य जब दुःख से, व्यथा से, वेदना से आकुल हो क्रन्दन करता है, तब क्रन्दनकारी की आँख के भीतरी प्रान्त से (नासिका पार्श्व से) अश्रु गिरने लगता है और मनुष्य जब अत्यन्त आनन्दविह्वल हो रोए तब उसके नेत्र के वहिर्प्रान्त से अश्रु झरने लगता है । शोकाहत मनुष्य का जो अश्रु विसर्जन है उसे कहते हैं 'शोकाश्रु' और आनन्दाप्लुत मनुष्य का जो अश्रु विसर्जन होता है उसे कहते हैं 'आनन्दाश्रु' । अतः मनुष्य जो व्यथा-वेदना से अश्रु विसर्जन करते हैं वह भी जैसे परमपुरुष के लिए, आनन्द के आवेश में आविष्ट हो मनुष्य जब नेत्रजल पात करते हैं, वह भी उसी तरह परमपुरुष के लिए ही करते हैं । अतः उसे संगत कारण से ही 'रुद्र' कहा जाता है ।

इस व्यक्त जगत् में नाना घात-प्रतिघात, नाना आपद-विपद में पड़कर मनुष्य अश्रु विसर्जन करता है । यह जो गुणान्वित जगत् है, यह भी परमपुरुष

की सृष्टि है। अतएव वे 'रुद्र' हैं। अब, यदि एकाधिक रुद्र रहते, तब इस विश्व की धारावाहिकता या समरूपत्व (uniformity) रहता। अतः 'रुद्र' एक हैं, अनेक नहीं। उसके लिए श्लोक में कहा गया है—'न द्वितीयाय तत्स्थूर्य'—उनका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं है।

ये जो रुद्र हैं या परम सत्ता हैं, ये ही विश्व के 'ईश' या नियन्ता भी हैं। संस्कृत में 'ईश्' धातु का अर्थ हुआ नियन्त्रण करना और वही परम सत्ता अपनी भूमा-प्रकृति की सहायता से विश्व का नियन्त्रण करते हैं। इसलिए 'आनन्द सूत्रम्' में कहा गया है, 'शक्तिः सा शिवस्य शक्तिः'। यह शक्ति हुई परमपुरुष की शक्ति, प्राकृत शक्ति। चितिशक्ति प्राकृत शक्ति के अधीन नहीं है, किन्तु प्राकृत शक्ति चितिशक्ति के अधीन है। चितिशक्ति को छोड़कर प्राकृत शक्ति रह नहीं सकती, किन्तु प्राकृत शक्ति को छोड़कर चितिशक्ति का अस्तित्व सम्भव है। यह जो परम चितिशक्ति हैं ये अपने अजस्र प्राकृत शक्ति की सहायता से इस विश्व ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण करते हैं।

इस परम सत्ता से विश्व के सभी कुछ की उद्भूति हुई है। उनकी ही कृपा से इस विश्व का सब कुछ उनमें ही स्थित है और यथाकाल में एक दिन उनमें ही लय प्राप्त होगा। अर्थात् एकाधार में स्रष्टा-पाता-प्रहर्ता वे ही हैं। वस्तुतः यह विश्व कस्मिन् काल में भी सम्पूर्ण ध्वंस को प्राप्त होगा अर्थात् इस विश्व की एक साथ तापगत मृत्यु, कई एक बार ही हुई है और भविष्य में भी होगी। किन्तु वह होगी विश्व के एक निर्दिष्ट सीमित क्षेत्र में। सामग्रिक रूप में विश्व की तापगत मृत्यु कभी नहीं होगी। हमारे इस पृथ्वी ग्रह का विनाश होने के पहले ही मनुष्य जाति के वंशधर इस पृथ्वी को त्याग कर सौरजगत् के अन्य किसी ग्रह पर या अन्य सौरजगत् के किसी ग्रह पर जाकर निवास करना प्रारम्भ कर देंगे। भविष्य में इस तरह की घटना घटने की बहुत सम्भावना है।

कभी विश्व के किसी एक निर्दिष्ट अंश का सामग्रिक विनाश घटता भी है, तब भी परमपुरुष तो रहते ही हैं। इसका मतलब है विश्व का कोई भी, कहीं पर, किसी अवस्था में भी अकेला और असहाय नहीं है। परमपुरुष

सर्वदा ही अपनी सृष्टि के साथ ओतप्रोत रूप से युक्त रहते हैं। समग्र विश्व के साथ उनका यह जो पूर्ण योग है, इसे ही दार्शनिक भाषा में कहा गया है, प्रोतः योग। उसी प्रकार परमपुरुष जब सृष्टि के एक एक सत्ता के साथ पृथक् पृथक् रूप से युक्त रहते हैं, व्यष्टि सत्ता के साथ उनका यह जो संयोग है, उसे कहा जाता है, परमपुरुष का ओतःयोग। तब देखता हूँ परमपुरुष इस विश्व के साथ सामग्रिक रूप से संयुक्त हैं। अर्थात् विश्व के साथ रहता है उनका ओतयोग और प्रोतयोग। इसीसे 'आनन्दसूत्रम्' में कहा गया है—'ओतःप्रोतःयोगाभ्याम् संयुक्तः पुरुषोत्तमः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठते संचुकोपान्तकाले॥' अर्थात् सम्पूर्ण विनाश की अवस्था में भी परमपुरुष सभी के संग ही रहते हैं। इसलिए जीव को किसी अवस्था में भी भय पाने की आवश्यकता नहीं है।

'संयुज्य विश्वभुवनानि गोपाः'। इस विश्व की सृष्टि हो जाने पर परमपुरुष ने क्या किया? हाँ, उन्होंने स्वयं को छुपा लिया अपनी ही सृष्टि के माध्यम में। अतः उनको पाने के लिए उनकी सृष्टि के बीच में उन्हें खोजना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रयास करना पड़ेगा और उनको खोजने का जो विशेष पंथा या प्रयास है, उसका ही नाम 'साधना' है। वस्तु जगत् के साथ परागति के सन्तुलन के माध्यम से उनकी खोज करनी होगी। जीवमात्र का वही एकमात्र प्रधान कर्तव्य है।

(पटना, ४ सितम्बर, १९७८)

देवादिदेव महादेव

“एष ह देवः प्रदिशोहनुसर्वा पूर्वोह जातः स उ गर्भे अन्तः ।

स एव जातः स जनिष्यमानः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति विश्वतोमुखः ॥”

ये ही हुए वह परम तत्व, वही महादेव जो विश्व के सकल दिक् में ही कार्य करते जा रहे हैं। वेद में कहा गया है—

“द्योतते क्रीडते यस्मादुद्यते द्योतते दिवि ।

तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदेवतैः ॥”

विश्व के चरम बिन्दु से जो सब स्पान्दनिक अभिव्यक्ति उत्सारित होती जा रही हैं वे सभी ‘देवता’ हैं। फिर ये देवतागण भी विश्व की चक्रनाभि को ‘देव’ कहकर सम्बोधन करते हैं। वे ही अपनी स्वयं शक्ति से इस विश्वब्रह्माण्ड को, भावस्पन्दन से, स्पन्दित कर डालते हैं, विश्व को ताण्डव नृत्य के झूले पर दोलायित कर देते हैं और वे अपनी ‘ऐशी’* शक्तिबल से और ‘परा ऐशी शक्ति’ से अन्त में विश्व के सब कुछ को अपने में संहरण कर लेते हैं। यही हुई ‘देव’ शब्द की व्याख्या और विश्व की चक्रनाभि से उत्सारित जो सूक्ष्मतातिसूक्ष्म दैव रश्मियाँ हैं, उन्हें कहा जाता है— देवता। यही हुए देवताओं के देवता...देवानाम् अपि देवः इत्यर्थे महादेवः।

“तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।

पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥”

यहाँ पर ईश्वर माने कण्ट्रोलर। किसी देश में— केवल देश ही क्यों कहूँ, ऐसा कि किसी सुदूर ग्राम में भी अजस्र मालिक हो सकते हैं। जैसे, भण्डार के मालिक, अस्त्रशस्त्र के मालिक, कृषिज सामग्री के मालिक इत्यादि, इत्यादि। मुगल जमाने में दिल्ली के सम्राटों को कहा जाता था दिल्लीश्वर अर्थात् वे थे दिल्ली के भाग्यविधाता। वे अनेक समय भूल जाते थे सम्भवतः समझ नहीं पाते थे कि दिल्लीश्वर और जगदीश्वर के बीच में भी वास्तव में

कोई पार्थक्य की सीमा रेखा है कि नहीं।

वे कभी कभी समझ बैठते थे कि वे ही शायद जगदीश्वर या विश्वविधाता हैं, किन्तु ये जो छोटे-बड़े मालिक या नियन्ता या ईश्वर हैं, इन सभी के उर्ध्व में है महेश्वर— ईश्वर के भी ईश्वर—सभी के भाग्य नियन्ता।

इसके पहले ही कह आया हूँ, परमपुरुष हुए परम देवता, ‘परमञ्च दैवतम्’ अर्थात् सभी देवताओं के भी जो अधिपति हैं। “पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥”

संस्कृत का ‘पति’ प्राकृत हो जाता है ‘अइ’। उदाहरण स्वरूप, ‘देशपति’ प्राकृत में हो जाता है ‘देशअइ’; उससे ‘देशाइ’। वैसे ही दलपति से दलअइ से दलइ या ‘दलुइ’। ‘भगिनीपति’ से ‘बहनिअइ’, उससे ‘बहनइ’ या बोनाई, ‘बहनोइ’। अतः हे परमपुरुष! तुम्हीं सभी मालिकों के सर्वश्रेष्ठ मालिक— तुम हो सभी राजाओं के राजा।

जहाँ पर कोई कार्य सम्पन्न होता है, वहाँ पर उसके पीछे रह जाता है एक कर्तृभाव और एक कर्मभाव। जहाँ पर सम्पूर्ण विश्व हुआ कर्मभाव, वहाँ पर भूमात्मन हुआ कर्तृभाव। जहाँ भूमात्मन कर्मभाव है, वहाँ भूमाचैतन्य है कर्तृभाव। जब कहीं कुछ देखते हो तब तुम्हारी आँखें हुई कर्तृभाव और दृष्टवस्तु हुई कर्मभाव। जब तुम्हारी आँखें हुई कर्मभाव, तब तुम्हारा मन हुआ कर्तृभाव अर्थात् परवर्तीकाल में भी तुम्हारा मन है कर्तृभाव। परवर्ती चरण में तुम्हारा मन जब कर्मभाव होता है, तब आत्मा होता है कर्तृभाव। उसके परवर्तीकाल तुम्हारा आत्मा हुआ कर्मभाव और परमात्मा हुए कर्तृभाव। इसीसे परमपुरुष ही शेष पर्यन्त हुए जीव के चरम तथा परम कर्तृभाव। वे ही हुए ‘परात्पर’ अर्थात् सभी पर सत्ता के पर। कर्तृभाव को कहा गया है ‘पर’। अतः वे हुए एकदम ‘परेश’ और ‘अपरेश’।

‘विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्’ वे हुए देव। उनकी विशाल भूमा देह से ज्योतिरेखा...अजस्र स्पन्दनरेखा उत्सारित होती रहती है। मनुष्य को साधना के द्वारा उनको ही जानना होगा, उनकी ही उपलब्धि करनी होगी। इस विश्वब्रह्माण्ड में एकमात्र वे ही आदरणीय हैं, एकमात्र वे ही वरणीय हैं,

स्ववनीय है। वे ही हुए वही परम देव। किसी निर्दिष्ट तारंगिक अभिव्यक्ति का एक अति क्षुद्र भग्नांश मानव अनुभूति में गोचरीभूत होता है। अतः वह बोल उठता है, “तव तत्त्वं न जानामि कीदृशोसि महेश्वरः”।

वे राजाओं के भी राजा हैं—सम्राट (अंग्रेजी में emperor) हैं। वे हुए चरम तथा परम कर्तृभाव, सकल खण्डभाव के नियन्ता एक अखण्ड कर्तृभाव। यदि किसी को तुमको जानना ही है, तब केवल उन्हीं को ही जानना होगा। अब प्रश्न कर सकते हो, कि मनुष्य यदि परम पुरुष का कर्मभाव है, तब मनुष्य किस तरह उस परम सत्ता का कर्तृभाव हो सकता है? तुम जब उनका ध्यान करते हो, तब उनको ध्यान का ध्येय बना लेते हो। वस्तुतः वे तो सकल जीव के कर्तृभाव हैं, अतः उन्हें पुनः जीव का कर्मभाव किया जाय किस तरह से? यह एक जटिल प्रश्न है। इसका उत्तर फिर भी, खूब सहज और सरल है। कोई यदि उनका ध्यान करता है, उसका यह मतलब नहीं है कि किसी का कर्मभाव हो जाते हैं। केवल उस समय तक के लिए मनुष्य सोचता है कि चैतन्य सत्ता उसे देख रहे हैं। वे उसे अपने कर्मभाव के रूप में देखते हैं।

अभी तुरत ही मैंने कहा है कि वह परम देव दस दिक् में कार्य करते चले जा रहे हैं। दिशाओं की कुल संख्या १० है—उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम, ये हुई चार मुख्य दिशाएँ। हम अंग्रेजी की खबर को कहते हैं (NEWS : N-E-W-S अर्थात् जिसे हम उत्तर, पूर्व, पश्चिम, दक्षिण दिशाओं से आहरण करते हैं। इन चार मुख्य दिशाओं के अलावे भी हैं और छः दिशाएँ - ईशान, वायु, अग्नि, नैऋत, उर्ध्व और अधः। प्रथम चार मुख्य दिशाएँ पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ये हुई प्रदिश और ईशान, वायु, अग्नि, नैऋत, उर्ध्व और अधः - इन छः दिशाओं को कहूँगा अनुदिश। प्रदिश और अनुदिश मिलकर हुई दस दिशाएँ। परम पुरुष इन दस दिशाओं में समान रूप से विराजमान है, किसी दिशा की वे उपेक्षा या अवहेलना नहीं करते हैं। कोई सत्ता इन दस दिशाओं में जिस किसी में आश्रय क्यों न ले, परमपुरुष उसे ठीक ही देख रहे हैं।

यदि कोई अन्याय कार्य अन्तरिक्ष में करे या समुद्र में या पर्वत की गुफा

में छिपकर करने की चेष्टा करें, उसमें भी वह सफल न होगा, कारण परमपुरुष वहाँ पर भी है। ‘पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः’।

पुनः ये परम देवता ही अति सूक्ष्म कीटाणुकीट में भी अभिव्यक्त हैं। ये क्षुद्रातिक्षुद्र अणुजीव समूह भी उनके ही कर्मभाव हैं, और उनके ऊपर परम देवता की वैयष्टिक प्रतिफलन को कहूँगा एक प्रकार का जीवात्मा। वे जब इन जीवात्माओं के साक्षित्व के रूप में विराजमान रहते हैं, तब वे हुए प्रत्यगात्मा। ‘पूर्वो ह जातः’—उन्होंने पहले भी ऐसे ही किया था, वर्तमान में भी वैसे ही करते चले जा रहे हैं और भविष्य में भी वैसे ही करते रहेंगे।

इस विश्व में जो कुछ भी है, अभी तक जो कुछ सृष्ट हुआ है, जो कुछ भी सृष्ट होता है, भविष्य में जो कुछ सृष्ट होगा—इन सभी में रहते हैं, वे ही परमपुरुष। इस बहुधा-रूपायित विश्व चराचर में उसी एकक सत्ता का ही अजस्र प्रकाश है। अभी वर्तमान में जो कुछ भी है, वे सभी ही विश्व पिता के प्रतिविम्ब हैं। उसी तरह अतीत में भी जो कुछ था, वह भी सब कुछ उनका ही प्रतिविम्ब था, पुनः भविष्य के गर्भ में जो कुछ छिपा हुआ है, वह सब भी उसी एक ही भूमा सत्ता की प्रतिच्छाया है।

‘प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति विश्वतोमुखः’—वे हुए सहस्रमुख। अर्थात् तुम जिस दिशा में देखो क्यों न या जिस कोण से ही उनको देखने की चेष्टा क्यों न करो, तुम उनका मुख देख पाओगे। तुम उनकी दृष्टि से किसी तरह से भी ओझल न हो सकोगे। तुम्हारा जैविक अस्तित्व, उनकी दृष्टि से अगोचर नहीं हो सकता; क्योंकि वे सर्वतोमुख जो हैं।

पुनः ये ही परमपुरुष हुए सहस्रशीर्ष अर्थात् अजस्र मस्तक हैं उनके। मनुष्य को है केवल एक ही मस्तिष्क और उसके भीतर है अति अल्पसंख्यक स्नायुकोष जिनकी शक्ति अत्यन्त सीमित है। ये जो परम सत्ता हैं, वे स्वरूपतः असीम अनन्त हैं, उनको है अनन्त संख्यक मस्तिष्क और शक्ति भी उनकी अनन्त है।

(पटना, ५ सितम्बर, १९७८)
only 1/10 portion
15.

प्रणव - माहात्म

“सर्वे वेदा यत्पदामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचरं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतद् ॥”

यहाँ पर प्रणव-महिमा के सम्बन्ध में कहा गया है । जो साधक को उनके भूमा लक्ष्य की ओर, विश्व ब्रह्माण्ड की मध्यमणि की ओर अग्रसर होने में सहायता करे, वही है प्रणव ।

‘सर्वे वेदाः’ का अर्थ है सकल वेद । यहाँ पर ‘सर्व’ का तात्पर्य क्या है ? यहाँ ‘सर्व’ माने क्या ? सर्वः, सर्वोः, सर्वे । ‘सर्व’ माने सब कुछ । ‘सर्व’ शब्द में तीन अक्षर है - स, र, व । ‘स’ हुआ सत्वगुण का बीजमन्त्र । ‘स’ इस क्षेत्र में शब्द के आदि में क्यों है ? परम चैतन्य से जब सृष्टि की धारावाहिकता प्रथम शुरू होती है, तब उस अभिव्यक्ति के आदि में रहता है सत्व गुण की प्रधानता । अतः ‘सर्व’ शब्द का आद्यक्षर है ‘स’ ।

इसके बाद आ रहा है ‘र’ अक्षर । जो कुछ हुआ है, या हो रहा है, उसमें चलमानता तो रहेगी ही । वहाँ पर रहेगी गति और उसके साथ रहेगी द्रुति भी । यह जो गति और उसकी द्रुति है, यह आती रहती है एनर्जी या शक्ति से । इस शक्ति को छोड़कर गति रह ही नहीं सकती । ‘र’ ध्वनि है एनर्जी का बीजमन्त्र । अतः ‘सर्व’ शब्द का द्वितीय अक्षर हुआ ‘र’ और ‘व’ हुआ तृतीय या शेष अक्षर । ‘व’ है वैशिष्ट्य या स्वभाव धर्म का बीज मन्त्र । विश्व के प्रत्येक सृष्ट जीव का रहता है अपना वैशिष्ट्य.... स्वभावधर्म । जिनके स्वभावधर्म नहीं है ऐसी सत्ता या जीव जगत् में नहीं है ।

इस पृथ्वी पर जो कुछ है, वह सभी ही आ रहा है भूमाचैतन्य के सत्वगुणी प्रकृति से । इसलिए सृष्टि की प्राथमिकता है ‘स’ और उसके बाद ही आता है चलमानता, जो एनर्जी की सहायता से संसाधित होता रहता है ।

इसीसे ‘र’ रहता है और सब कुछ का रहता है अपना वैशिष्ट्य इसीसे है ‘व’ । स, र, व—सृष्ट जगत् की प्रत्येक सत्ता में विद्यमान है यही तीन गुण और इसीलिए ‘सर्व’ का माने हुआ सब कुछ । ‘स-र-व’ — इन तीन के बाहर कहीं कुछ रहने का उपाय नहीं है ।

ऋग्वेद के ‘ऋक्’ का माने है स्तुति । ‘वेद’ माने ज्ञान । ‘सर्वे वेदाः’ माने यावतीय ज्ञान । यहाँ पर ज्ञान का तात्पर्य होता है आध्यात्मिक ज्ञान मानसातीत ज्ञान । मानसिक या भौतिक ज्ञान ज्ञान पदवाच्य नहीं है । कारण स्थान-काल-पात्र के परिवर्तन के साथ साथ वह भी बदल जाता है । वे परमार्थिक सत्ता नहीं हैं । “बर्लिन जर्मनी की राजधानी थी ” किन्तु अभी नहीं । बर्लिन अब जर्मनी की राजधानी नहीं है—जर्मनी की राजधानी अभी बौन (Bonn) है । यहाँ पर दोनों ही ठीक है, तब दोनों के बीच में घट गया है एक कालगत व्यवच्छेद....समय का व्यवधान ।

लक्ष्यपूर्ति के लिए जो दुःख-कष्ट स्वीकार, जो क्लेश-विपत्ति वरण, उसे ही कहते हैं तपः । इसे तपस्या भी कहा जाता है । जो सब मुनि-ऋषि, जो सब आध्यात्मिक साधक परम तत्त्व का लाभ करने के लिए कठोर तपश्चर्या का अवलम्बन करते हैं, वे ऐसा किसलिए करते हैं - हाँ, इस परम पद की प्राप्ति के लिए करते हैं ।

‘इच्छन्तः’ माने जो परम तत्त्वजिज्ञासु हैं, जो परम पद में स्वयं को प्रतिष्ठित करने की अभिलाषा रखते हैं, वे अर्थात् आध्यात्मिक साधकों ने, जिन्होंने भौतिक जगत् में निवास करते हुए भी, परमपुरुष को अपने मौलिक आत्मतत्त्व की तरह से स्वीकार कर लिया है ।

मैंने उस दिन तुम लोगों से कहा था कि परम पुरुष हुए चरम ज्ञान-सत्ता, बाकी सभी हैं उनके मानस विषय । वे किसी अणुजीव का मानस विषय हो नहीं सकते, दर्शन और मनस्तत्त्व के दृष्टिकोण से विचार करने पर यही सङ्गत है । किन्तु ध्यान करने के समय मानस विषय हो नहीं सकते, क्योंकि वे तुम्हारे कर्तृभाव हैं । वरन् मैं कहूँगा वे ही सब कुछ हैं । वे तुम्हारे कर्तृभाव हैं और तुम हुए उनका कर्मभाव । किन्तु जब तुम ध्यान करने बैठते हो, उनकी बातों को स्मरण करते हो, तब वे तुम्हारे मानस भाव के बीच में आ

जाते हैं। क्या यह असम्भव है कि वे किसी के कर्मभाव में स्थित रहते हैं ? उस समस्या के समाधान हेतु करोगे क्या -हाँ, ध्यानाभ्यास काल में और इष्टमन्त्र के जप करने के समय मन ही मन सोचोगे कि वे तुम्हें देख रहे हैं। यही है साधना का गोपनीय संकेत।

‘ब्रह्मचर्यं चरन्ति’। ‘ब्रह्मचर्यं’ क्या वस्तु है ? संस्कृत भाषा में चलने के लिए अनेक धातुएँ हैं। जैसे एक हुआ, ‘चलति’ एक रूप, चलता है, हिलता है इसके लिए साधारणतः एक क्रिया रूप है ‘चलति’ और एक है ‘चरति’-खाते खाते चलने के लिए ‘चरति’ रूप है। चलता है, उसी के साथ खा भी रहा है-जैसे गाय। अब अगर कोई रास्ता में चलते-चलते बादाम खाते-खाते चले तब उसे भी कहेंगे ‘चरता’ है ! कुछ लोग बादाम को चिनिया बादाम कहते हैं, हिन्दी में कहते हैं ‘मूँगफली’। इसके बाद आता है ‘अटति’। ‘अटति’ का माने भी चलता है, किन्तु ‘अटति’ माने उस प्रकार का चलना जिससे मनुष्य सीखते-सीखते चलता हो। चरति/चलति - इस प्रकार साधारण गतानुगतिक चलना नहीं है। इसके बाद आता है ‘व्रजति’ जिसका माने है आनन्द पाते पाते चलना। अतः परमपुरुष की ओर जो चलना है यह है ‘व्रजति’। चलने के लिए कितना धातु रूप है।

ब्रह्मचर्यः ‘ब्रह्मणि विचरणम् इति ब्रह्मचर्यं’ अर्थात् ‘ब्रह्ममय जगत् में सर्वदा विचरण करना ही ब्रह्मचर्य है’, वह किस तरह ? सो, मनुष्य सर्वदा भौतिक मानसिक और आध्यात्मिक आभोग आहरण करता है, ब्राह्मी जगत् से। इसलिए जो मनुष्य मधुविद्या अथवा गुरुमन्त्र की सहायता से ब्राह्मी जगत् में विचरण करते हैं, वे ब्रह्मचारी हैं, वे इस बात को सर्वदा स्मरण रखते हैं कि ब्रह्ममय जगत् ही उनकी विचरण भूमि है।

ऋषि कहते हैं, ‘वही परम पद लाभ करो, उसी परम पद का चरम सान्निध्य प्राप्त करो। मैं कहता हूँ ‘ॐ’ है वह प्रणव’। इस ‘ॐ’ में हैं तीन ध्वनियाँ - अ-उ-म। तुमलोग जानते हो, आर्य-भारतीय लिपिमाला में हैं पचास वर्ण - १६ स्वरवर्ण हैं और ३४ व्यंजनवर्ण। इन वर्णमालाओं का एक-एक ध्वनि एक-एक ब्राह्मी अभिव्यक्ति का बीजमन्त्र है। उसी से ५० नियन्त्रक बीजमन्त्र हैं। और उनमें उनका परमुटेशन कम्बिनेशन करके जटिल

प्रकार के बहुसंख्यक बीजमन्त्र तैयार किये गये हैं। यह जो नियन्त्रक ध्वनि है, इसे ही कहते हैं ‘प्रणव’।

ऋषि कहते हैं ये जो तीन मुख्य नियन्त्रक ध्वनियाँ हैं, ये हैं अ, उ, म। ‘अ’ हुआ सृष्टि का बीजमन्त्र। इसीसे आर्य-भारतीय लिपिमाला में ‘अ’ है आद्यक्षर। इस विश्व के प्रत्येक स्मन्दन का वर्ण है। उस वर्ण को मनुष्य देख भी सकता है, नहीं भी देख पा सकता है। पुनः उस वर्ण का एक शब्द भी है। वह शब्द मनुष्य सुन पा भी सकता है, नहीं भी सुन पा सकता है, किन्तु शब्द अवश्य ही है। हमारी श्रवण शक्ति की परिधि के बीच में वह शब्द आ भी सकता है, नहीं भी आ सकता है। हम उस शब्द को सुन भी सकते हैं, नहीं भी सुन सकते हैं, किन्तु शब्द तो एक है ही। इसलिए प्रत्येक कर्म और अभिव्यक्ति के लिए एक शब्द अवश्य ही रहेगा और इसीसे सृष्टि की आदि ध्वनि हुई ‘अ’। अब अगर प्रश्न उठे की ‘अ’ को क्यों सृष्टि का बीजमन्त्र बनाया गया, ‘आ’ को नहीं क्यों इसके उत्तर में मैं कहूँगा ‘अ’ ध्वनि हुई सृष्टि का बीजमन्त्र। रोमन लिपि का ‘अ’ अक्षर है जिसका उच्चारण ‘अल्फा’, ‘अल्फ’ की तरह है। यही ‘अ’ है सृष्टि का बीजमन्त्र।

कहीं कुछ सृष्टि के बाद ही उसके पालन करने का प्रश्न आता है, उसके बाद भरण-पोषण का प्रश्न आता है। उसको प्रयोजनीय आभोग आपूर्ति करनी होगी। ‘उ’ ध्वनि हुई वही पालनबीज।

जब तुम अपने मन के अन्दर कुछ बनाते हो, तब उसे कुछ क्षण रोक कर रखते हो, इसके बाद उसे अपने मन के अन्दर संहरण कर लेते हो, अपने मन से ही प्रत्याहार कर लेते हो। ठीक उसी प्रकार से परमपुरुष अपने मन के भीतर कुछ बनाकर मन में ही प्रत्याहार कर लेते हैं। ‘म’ हुआ इस प्रत्याहार क्रिया का बीजमन्त्र। यह जो प्रत्याहार क्रिया है, वह मरणशील मनुष्य के निकट हुई मृत्यु, किन्तु परमपुरुष के निकट यह एक साधारण प्रत्याहार पद्धति मात्र है। इस प्रत्याहार पद्धति का बीजमन्त्र हुआ ‘म’ और इसके लिए ‘म’ ध्वनि को व्यञ्जन वर्णमाला के एकदम अन्त में रखा गया है। इस तरह से अ, उ, म से ‘ॐ’ हुआ। उस दिन तुमलोगों को कहा

था, 'अ' इस सृष्टि क्रिया का बीज है, 'उ' हुआ पालन क्रिया का बीज, और 'म' हुआ संहार क्रिया का बीज । परमपुरुष है इस तीनों के समाहार । वे हुए GOD, G अर्थ में Generator अर्थात् सृष्टिकर्ता, O अर्थ में Operator अर्थात् पालनकर्ता, D अर्थ में Destructor अर्थात् संहारकर्ता ।

(पटना, ६ सितम्बर, १९७८)
only 10% टर.

प्रवचन - ३६

साधना में क्रमोन्नति:

तन्त्रशास्त्र में है :-

“सर्वे च पशवः सन्ति तलवत् भूतले नराः ।

तेषां ज्ञानप्रकाशाय वीरभावः प्रकाशितः ।

वीरभावं सदा प्राप्य क्रमेण देवता भवेत् ॥”

तन्त्र की परिभाषा में, जन्मसूत्र में विश्व का प्रत्येक जीव एक एक पशुभावात्मक प्राणी है । किन्तु कालक्रम में जीव के उस पशुभाव को देवभाव में...देवत्व में उन्नीत करना होता है । प्राथमिक स्तर में जिस मनुष्य का आचार-आचरण पशुवत् है, उन्नत जीवनचर्या और साधना के द्वारा, उसे मनुष्यत्व में उन्नीत करना होगा, इसके बाद उसी मनुष्य को और साधना और प्रयास के द्वारा देवत्व में प्रतिष्ठित करना होगा । पशुत्व से देवत्व में यह जो क्रमोन्नयन है यह जिस पद्धति के द्वारा संसाधित है, उसीका नाम 'साधना' है । एक संस्कृत के श्लोक में कहा गया है -

“जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते ।

वेदपाठी भवेत् विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ॥”

कहा गया है, जन्मगत रूप में सभी शूद्र हैं । यहाँ पर 'शूद्र' का माने है जिसके अन्दर पशुवृत्तियाँ पूर्णमात्रा में विद्यमान हैं । मनुष्य जब प्राथमिक दीक्षा लेता है अर्थात् वैदिकी दीक्षा लाभ करता है, तब वह सीख लेता है - किस तरह से प्रार्थना करनी है, उन्नत जीव के विचार से किस तरह से मानस अभिव्यक्ति को बाह्यिक रूप देना होता है । ऐसी अवस्था में मनुष्य को 'द्विज' कहा गया है । 'द्विज' शब्द का भावरूढार्थ हुआ जिसका जन्म दो बार हुआ है । इसके बाद यथायथ शास्त्राध्ययन और सम्यक् आध्यात्मिक ज्ञान लाभ

करने के बाद वह बनता है विप्र और अन्तिम चरण में तान्त्रिकी दीक्षा अर्थात् मानसाध्यात्मिक साधना की सहायता से ब्रह्मोपलब्धि के बाद होता है ब्राह्मण ।

अब प्रश्न हुआ यह- जो पशुभाव युक्त मनुष्य है, जो अवनतमानस जीव है, उनका क्या कोई भविष्य नहीं है ? निश्चय ही है, क्योंकि परमपुरुष सभी के साथ ही सम भाव से विराजमान है; और इसी से मानव देहधारी पशुस्वभाव जीव में भी वे विद्यमान हैं । शास्त्र की भाषा में यह जीव पशुस्वभावयुक्त जीव है, इनके उपास्य देवता, इनके ध्यान के ध्येय वे ही एक परमपुरुष हैं, इसी से उनको सम्बोधन करते हैं 'पशुपति' । इस अवस्था का साधक परमपुरुष को अपनी आकृति जनाकर कहता है- 'हे प्रभु, हे परमपुरुष, हम तो पशुस्वभावयुक्त जीवमात्र हैं; तुम हमारे देवता हो, तुम हमारे 'पशुपति' हो, इसीसे परमपुरुष का एक और नाम है 'पशुपति' । आध्यात्मिक विचार से प्रसुप्त मानवता के लिए परमपुरुष है पशुपति ।

'तेषां ज्ञानप्रकाशाय वीरभावः प्रकाशितः,' । परवर्ती चरण में जब मनुष्य अनुभव से समझता और सीखता है कि उसके करणीय क्या हैं और अकरणीय क्या हैं, जीवन में क्या ही चर्य और क्या ही अचर्य हैं, जीवन का चरम लक्ष्य ही क्या है, तब वे वीर भाव को प्राप्त होते हैं । सभी तरह की प्रतिकूलता, सर्व प्रकार की बाधा-विपत्ति, यावतीय प्रतिकूल परिस्थिति के विरुद्ध संग्राम करना वीरभाव का द्योतक है । जो लोग वैसा ही करते जा सकते हैं, उनको अवश्य ही 'वीर' की आख्या देनी होगी । मनुष्यत्व में प्रतिष्ठा के स्तर में पहुँचकर साधक के अन्दर जब यह वीरभाव जग उठता है, वह तब मनुष्यत्व विरोधी तत्व के विरुद्ध संग्राम के लिए उद्यत होता है, वह तब नेतृत्व की श्रेष्ठता लाभ करता है । तब में इस स्तर के साधकों को कहा जाता है 'वीर' और उनके उपास्य देवता को कहा जाता है 'वीरेश्वर' । तब से उनको और 'पशुपति' कहा नहीं जायेगा । अतः परमपुरुष का एक अन्य नाम 'वीरेश्वर' भी है ।

तृतीय स्तर में जब साधक सम्पूर्ण रूप से वीरभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है, जब वह और संग्राम करने में भी भयभीत या पराजित नहीं होता है, वह तब से मानलिया जाता है कि वह दिव्यभाव में उन्नीत हुआ है (इस प्रसंग में

एक बात याद रखनी होगी कि यहाँ पर 'साधक' कहने से नारी - पुरुष दोनों को इंगित करता है) अर्थात् अब से उसे 'वीर' न कहकर कहना होगा 'देव' । "क्रमेण देवता भवेत्" - वह तब मनुष्य-आधार में देवता है । और इस दिव्याचारी साधकों के आराध्य देवता हुए 'महादेव'-वीरेश्वर नहीं ।

तब देखता, हूँ साधना के प्रथम चरण में उपास्य देवता हुए 'पशुपति', द्वितीय चरण में 'वीरेश्वर' और तृतीय तथा शेष चरण में 'महादेव' । साधक के मानसाध्यात्मिक स्तर अनुयायी उसके उपास्य देवता निर्धारित होते हैं ।

साधारणतः तीन भाग में हम मनुष्य की अभिव्यक्ति को प्रत्यक्ष करते हैं-(१) मनुष्य मन ही मन चिन्तन करता है, (२) मुख से बातें करता है और (३) हाथ पैर से काम करता है । चिन्तन करते समय मनुष्य मस्तिष्क के स्नायुकोषों को काम में लगाता है, बात करते समय दोनों ओष्ठ काम में आते हैं, और काम करते जाने पर प्रायः पूरे शरीर का ही व्यवहार करना पड़ता है । मनुष्य- देहधारी पशुरूपी मनुष्य के क्षेत्र में लक्ष्य करता हूँ कि वे मन ही मन सोचते हैं एक (साधारणतः उनकी चिन्तन भावना स्थूल और जड़तात्मक है) मुख से बात एक प्रकार की करते हैं, और काम करते हैं और एक प्रकार की, अर्थात् उनके चिन्तन में, वाचनिकता में, कर्म में, कोई संगति खोजने पर भी नहीं मिलती है । यद्यपि उनका आधार मानविक है, किन्तु अभिव्यक्ति में पशुतुल्य हैं । आज मानव समाज में ये ही संख्यागारिष्ठ (Majority) हैं । मैं चाहता हूँ हमारे मानव समाज में यथार्थ मनुष्यता वृद्धि हो, किन्तु इस प्रकार के नर-पशुओं की नहीं ।

द्वितीय चरण में वीरभाव के साधकों की चिन्तन भावना अवश्य ही सूक्ष्मतर है, और उनकी बात में, कार्य करने में, एक तालमेल बना रहता है । वे जैसा सोचते हैं, बात और काम में ठीक वैसा तालमेल नहीं मिलता, फिर भी बात में और काम में मेल ठीक ही है । अर्थात् वे मुख से जो कहते हैं काम भी वैसे ही करते हैं । वीरभाव के साधक समाज में सम्मान पाते हैं । नेता के रूप में स्वीकृति पाते हैं । कोई - कोई पुनः महापुरुष के रूप में भी गण्य होते हैं । किन्तु उनमें भी थोड़ी-सी त्रुटि रह जाती है । कारण उनके सोचने में और कर्म में सब समय संगति नहीं रहती यद्यपि वाचनिकता में और कर्म में

एकसा मेल रहता है । शेष चरण में मनुष्य जब देवता में उन्नीत होता है, तब वह जैसा मन में सोचता है, वैसा ही मुख से भी कहता है, और जो मुख से कहता है, उसे वह कार्य रूप में परिणत करता है अर्थात् उनके सोचने में, वाचनिकता में और कर्म में कहीं कोई असंगति नहीं रह जाती है । अतः यह मानव अस्तित्व का श्रेष्ठ चरण है । हममें से प्रत्येक को ऐसा ही होना उचित है । यह जो मानव पशु भाव से क्रमोन्नति के सोपान से आगे बढ़ क्रमशः देवभाव में उन्नीत होता है, धीरे-धीरे देवता होता जा रहा है-मानव समाज में इनकी संख्या जितनी बढ़े उतना ही मंगल है । तुम लोगों ने जो इस महत् कर्म, साधना और त्याग के पथ को पकड़ कर आगे बढ़ने का व्रत लिया है, उससे समाज में इस प्रकार के देवमानव की संख्या वृद्धि हो पायेगी ।

(पटना, ७ सितम्बर, १९७८)

प्रवचन - ३७

प्रतीकीकरण

आध्यात्मिक मार्ग है मानव मन के प्रतीक चिन्ह के सामर्थ्य के बाहर । अर्थात् परमपुरुष हुए अवाडभनसोगोचर... अवर्णनीय, उसे मनुष्य का मन पकड़ या छू नहीं सकता । इसीलिए मनसातीत सत्ता के अस्तित्व को समझना और ठीक ठीक ढंग से प्रकट करने के लिए हमारा मन बिल्कुल ही असमर्थ और अधूरा माध्यम है । यहाँ तक कि प्रतिपल मनुष्य के मन में अनुभूति की जो परिवर्तन लीला होते जा रही है, उसे मनुष्य की आज्ञानाड़ी ठीक ढंग से व्यक्तिकरण नहीं कर पाती । मानव देह के वागिन्द्रिय या अन्य कोई इन्द्रिय ही मन के सभी अनुभूति को प्रस्फुटित कर नहीं पाती । थोड़ा सा सामान्य कष्ट पाने पर वह कहता है, 'ओह !' फिर खूब अधिक कष्ट पाने पर भी कहता है, 'ओह !' यह जो कष्टसूचक पहला 'ओह !' और दूसरा 'ओह !' है इन दोनों 'ओह !' में अन्तर जो विशाल है उसे बताना भी कष्टकर बात है । यह दोनों 'ओह !' एक ही जैसी व्यथा या यन्त्रणा को सूचित नहीं करते ।

अब हमारा मन और संज्ञानाड़ी और आज्ञानाड़ियाँ मानसिक अनुभूति को ही ठीक ढंग से प्रकट कर नहीं पाती या कर पाने सकने पर भी आंशिक रूप से पा रही हैं तो वही वृहत्तम सत्ता परमपुरुष के मन को कैसे भला व्यक्त कर सकता या प्रतीकीकरण कर सकता ? यह एक असम्भव बात है । तथापि हम उस मानसातीत सत्ता को एक जैसा भी हो नाम रख देते हैं, और उसे कहते हैं 'परमपुरुष' । यह जो 'परमपुरुष' शब्द है वह भी तो एक प्रतीकी चिन्ह है । ऐसा असम्पूर्ण प्रतीकी चिन्ह का अर्थ हुआ यह कि जब हम उन्हें परमपुरुष कहकर बुलाते हैं तब हम यह कहना चाहते हैं कि 'हे परमपुरुष, तुम्हें हम उस नाम से पुकार रहे हैं कारण, इसे छोड़ हम अन्य किसी उपाय से तुम्हें प्रतीकीकरण कर पा नहीं रहे हैं ।' अतः उन्हें जानने के लिए तुम्हें अपने आपेक्षिक अस्तित्व के बाहर जाना होगा और उनके साथ एकात्मा होना पड़ेगा और यही होगा मानव जीवन में समग्र साधना का चरम उत्कर्ष ।

(पटना, ८ सितम्बर, १९७८)

आनन्द वचनामृतम्

(द्वितीय खण्ड)

गुरु कृपा हि केवलम्

कहा गया है, 'गुरु कृपा हि केवलम्।' यह भी कहा गया है कि 'ब्रह्मैव गुरुरेकः नापरः'। तुमलोग जानते हो कि 'गुरु' शब्द में दो अक्षर हैं—'गु' और 'रु'। 'गु' का अर्थ होता है 'अन्धकार'। आध्यात्मिक जीवन में अन्धकार, मानसाध्यात्मिक स्तर में अन्धकार। 'रु' का तात्पर्य है विदूरक, नाश करने वाला। 'गुरु' का अर्थ हुआ वह सत्ता जो तुम्हारे मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों के सभी प्रकार के अन्धकार का नाश करती है।

मात्र तारक ब्रह्म ही गुरु हैं, और कोई भी गुरु नहीं हो सकता। निर्गुण का कोई विषय नहीं होता। अतः निर्गुण सत्ता अपनी कोई कड़ी इस संसार में नहीं रखती। इस प्रकार निर्गुण गुरु नहीं हो सकते। सगुण रहते हैं विशिष्ट बन्धनों में, अतः सगुण भी गुरु नहीं हो सकते।

गुरु होना चाहिए निर्गुण की तरह किन्तु उसका एक मधुर सम्बन्ध भी इस अभिव्यक्त जगत् के साथ होना चाहिए। ऐसी सत्ता के अतिरिक्त कोई और सत्ता गुरु नहीं हो सकती जो तुम्हारे मन और आत्मा के अन्धकार को मिटा सके। इसीलिए 'गुरु कृपा हि केवलम्' का तात्पर्य होता है 'ब्रह्म कृपा हि केवलम्'।

कृपा क्या है? संस्कृत में मूल धातु है 'कृप्' जिसका अर्थ है किसी की प्रगति में सहायता करना, चाहे वह व्यक्ति उस सहायता के उपयुक्त हो अथवा नहीं। यदि कोई इस सहायता का पात्र है, जिसका अर्थ हुआ कि वह अपने को पूर्णतया विकसित करने की क्षमता रखता है, तब उसे 'कृपा' किंवा तारक ब्रह्म के सहायता की आवश्यकता ही क्या है? किन्तु जब कृपा के लिए उपयुक्त पात्र नहीं है, जब उसमें विकास करने की उपयुक्त योग्यता नहीं है फिर भी जब उसे सहायता मिलती है तो उस प्रकार की सहायता को 'कृपा'

कहते हैं ।

यहाँ तुम पूछ सकते हो कि जब यह भूमा जगत्, यह सम्पूर्ण सृष्टि, जो कुछ तुम देखते हो या जिसका अनुभव करते हो वह सब उनकी ही सृष्टि है, तब निष्पक्ष होने के लिए उन्हें सबकी सहायता करनी चाहिए अर्थात् परम पुरुष की कृपा सब पर होनी चाहिए, किन्हीं विशेष पर ही क्यों ? मैं अनेकों बार कह चुका हूँ कि कोई विशेष चुनाव नहीं होना चाहिए क्योंकि जब कभी कोई विशेष चुनाव होता है तो वहाँ पक्षपात है । अतः कोई चुनाव नहीं होना चाहिए । इसलिए कृपा किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं होनी चाहिए । सभी व्यष्टियों के प्रति समान व्यवहार होना चाहिए । यदि परम पुरुष किसी मनुष्य विशेष को विशेषतः सहायता देते हैं तो वह पक्षपात करते हैं ।

इस सन्दर्भ में कुछ और कहना है । दर्शन कहता है, परमपुरुष ने सब कुछ का निर्माण किया है, अतः वे सबके हैं और सब उनके हैं । किन्तु एक अध्यात्म साधक जो उनके प्रति प्रेम बढ़ा चुका है वह अपने व्यक्तिगत जीवन में इस दार्शनिक सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करेगा । वह कहता है, 'रहने दो उन अनेक सिद्धान्तों को, उन तर्कों और दर्शनों को । मैं उन दार्शनिक पोथियों से परिचालित नहीं होता हूँ । मैं तो अपने निजी अनुभवों से परिचालित होऊँगा ।' और, इस अध्यात्म साधक का निजी अनुभव क्या होता है ? वह कहता है—'परम पुरुष मेरे हैं, मेरे ही, किसी और के नहीं हैं और केवल मैं ही उनका हूँ और कोई उनका नहीं है' । अर्थात् 'मेरे प्रभु मेरी निजी सम्पत्ति है और मैं अपनी इस निजी सम्पत्ति को किसी दूसरे के साथ बाँटूँगा नहीं' ।

जब इस प्रकार का प्रेम जग जाता है तो निश्चय ही उसमें एक शक्ति आ जाती है । उस दृढ़ प्रेम के कारण वह दीन-दुर्बल मनुष्य परम पुरुष को आकर्षित कर लेता है । वे उसकी उपेक्षा नहीं कर पाते हैं । वह सिद्धान्तों से हजारों हजार गुना अधिक शक्तिशाली होता है । क्या इस प्रकार की प्रेममय भावना से यदि वे आकर्षित हो जाते हैं तो यह उनकी त्रुटि है ? नहीं, निश्चय नहीं, यह उनकी त्रुटि नहीं है । और, सबको ही तो यह अधिकार है कि वे परम पुरुष को अपनी ओर उसी प्रकार आकर्षित कर सकें । तुम भी

ऐसा ही क्यों नहीं करते ?

दूसरी बात यह भी है कि सामान्यतया परम पुरुष अपनी कृपा की वर्षा तो इस विश्व के कण-कण पर करते ही जा रहे हैं । उनकी यह कृपा वर्षा बिना किसी जाति, वर्ग, राष्ट्रीयता या सम्प्रदायगत भेद के सब पर समान हो ही रही है । किन्तु होता क्या है ? प्रत्येक व्यक्ति पर, व्यक्ति-व्यक्ति पर यह करुणा वर्षा हो रही है किन्तु इस वर्षाकाल में ही जब तुम अपने सिर पर एक छाता तान लेते हो तो तुम उस वर्षा से भीग नहीं पाते । तो, क्या यह त्रुटि उस वर्षा की है ? कदापि नहीं । यह त्रुटि उस वर्षा की नहीं है । त्रुटि तुम्हारे हाथों की है और उस अहंकार रूपी छतरी की है जिसके कारण तुम परम पुरुष की कृपा वर्षा से भीग नहीं पा रहे हो । इसमें उनकी त्रुटि नहीं है । तब तुम्हें करना क्या चाहिए ? तुम्हें अहंकार की छतरी अपने सिर से उतार देना होगा । तुम तब तुरन्त ही उनकी करुणा वर्षा से भीग उठोगे । तुम उनकी सर्वव्यापी कृपा से पूर्णतया भीग उठो ।

तुम्हारे गुरु कोई अन्य नहीं हैं । तारक ब्रह्म ही गुरु हैं । दूसरी बात यह कि सिवाय प्रार्थना और साधना के, सिवाय अपने प्रेमपूर्ण हृदय की पूरी शक्ति से उनकी कृपा का आकर्षण किये कोई विकल्प उनकी कृपा पाने का नहीं है ।

(पटना, ९ सितम्बर १९७८)

भक्तों की महिमा

मैं समझता हूँ कि मेरा यह सामाजिक आध्यात्मिक उत्तरदायित्व और कर्तव्य है कि मैं 'प्रपत्ति' के विषय में कुछ कहूँ। संस्कृत में प्र-पत् + क्तिन् से बनता है 'प्रपत्ति'। प्रपत्ति में जो विचार है, जो उसकी आत्मा है वह यह है कि इस विश्व में जो कुछ भी होता है वह सिवाय भूमात्मनस की इच्छा के अभिप्रकाश के और कुछ नहीं है। उनके आदेश के बिना न तो ज्वालामुखी फूट सकता है और न घास की एक पत्ती हिल सकती है। सब कुछ उनके द्वारा पूर्व-आदेशित और पूर्वनिर्धारित है।

मनुष्य कुछ कर नहीं सकता। जीव बिना उनकी सहायता के कुछ भी नहीं कर सकते। अर्थात् जब मनुष्य की इच्छा और उनकी इच्छा समान धारा में प्रवाहित होने लगती है तभी मनुष्य की इच्छा सफल होती है, अन्यथा उसकी असफलता सुनिश्चित है। जब जीव की इच्छा कृष्ण की इच्छा से समरूप हो उठती है तभी वह सफल होती है, अन्यथा नहीं। यही 'प्रपत्ति' शब्द का अर्थ और भावार्थ है।

भक्तिवाद (डिवोशनल कल्ट) अर्थात् प्रेमोपासना का आधार मात्र यही 'प्रपत्ति' है। ज्ञानवाद प्रपत्ति को समर्थन नहीं देता और भक्तिवाद का मात्र यही आधार है। लोग प्रपत्तिवाद की व्यावहारिकता पर प्रश्न कर सकते हैं। ज्ञानी कह सकते हैं, विद्वान कह सकते हैं, 'जब सब कुछ उनके ही द्वारा, उनकी ही इच्छा, क्रिया या संकल्प के द्वारा हो रहा है तो फिर मनुष्य के प्रयासों की आवश्यकता ही क्या है?' ज्ञानी यह सोच सकते हैं कि भक्त के लिए यह एक जटिल प्रश्न है और भक्त इसका उत्तर नहीं दे सकेगे। किन्तु तुम जानते हो कि यद्यपि ज्ञानी यह समझते हैं कि वे ही सबसे चतुर हैं, वे ही विद्वान हैं, फिर भी वास्तविकता यह है कि भक्त ज्ञानियों से अधिक

बुद्धिमान हैं और जो यह समझता है कि वह ज्ञानी है वह सबसे अधिक मूर्ख है।

जैसा मैंने पहले बताया है, ज्ञानी घास की एक पत्ती भी हिला नहीं सकते हैं किन्तु यदि भक्त परम पुरुष से निकट सम्बन्ध रखते हैं तो वे सब कुछ कर सकते हैं। यही है भक्तों की महिमा।

तथ्य यह है कि मनुष्य की योग्यता, उसकी क्षमता और उसकी दक्षता लगभग शून्य है। वास्तव में मनुष्य का कुछ भी नहीं है। वह सब कुछ परम पुरुष से ही पाता है। यदि वह तीन या चार दिनों तक, तीन, चार या पांच वर्षों तक लगातार भोजन न करे तो उसका कुछ भी शेष नहीं बचेगा। वह न बोल सकेगा, न हिल सकेगा। इस प्रकार मनुष्य के पास कुछ भी अपना नहीं है। एक भक्त जानता है कि उसके पास जो कुछ भी है वह सब 'उनका' है, वह भी उनका है। अतः भक्त प्रथमतः यही कहेगा, कोई कुछ भी अपने प्रयत्न से नहीं कर सकता।'

सब सांसारिक और भौतिक ज्ञान और तथाकथित बुद्धिमानी का मूल्य बहुत ही कम है। ऐसा ज्ञान को 'प्राप्तवाक्य' कहा जाता है अर्थात् वाक्य (ज्ञान) जो विभिन्न सांसारिक लोगों द्वारा, सांसारिक लोगों के माध्यम से आता है और जो सांसारिक अभिव्यक्ति है, 'प्राप्तवाक्य' है। पुरानी भूगोल की पुस्तकों में मिलेगा कि इलाहाबाद उत्तर प्रदेश की राजधानी है। बाद की पुस्तकों में मिलेगा कि उसी प्रदेश की राजधानी लखनऊ है। भविष्य में कुछ दूसरा भी हो सकता है। यही स्थिति है प्राप्तवाक्य की। यह आपेक्षिक और परिवर्तनशील होता है। भक्त उसे यथावत् स्वीकार नहीं करते। किन्तु ज्ञानी ऐसे ही पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर लड़ते झगड़ते रहते हैं।

भक्तों के लिए केवल आप्तवाक्य का महत्व है। जो परमपुरुष से आता है वह 'आप्तवाक्य' होता है। जब अपने विकसित प्रेम के सम्बन्धों के कारण भक्त उनकी इच्छा को सुनने, समझने, अनुभव करने और उपलब्ध करने लगता है तो उसे कहते हैं आप्तवाक्य। एक भक्त के रूप में तुम्हें आप्तवाक्य को ही मानना चाहिए। तुम स्मरण रखो कि 'षोडश सूत्र' (सिक्सटिन प्वाइन्ट) आप्तवाक्य है।

तुम्हारा मूल आधार होना चाहिए 'प्रपत्ति' । अर्थात् यह भाव कि सब कुछ परम पुरुष की इच्छा के अनुसार होता है और एक घास की पत्ती भी उनकी अनुमति के बिना हिल नहीं सकती । परम पुरुष की कृपा और करुणा के परिणामस्वरूप तुम्हें आप्तवाक्य का दिशानिर्देश मिला है । तुम्हारा यह कर्तव्य है कि तुम 'आप्तवाक्य' की शिक्षाओं और सिद्धान्तों का कठोरता पूर्वक पालन करो । ज्ञानवादियों का कोई भविष्य नहीं है ।

(पटना, १० सितम्बर १९७८)

भूमामानस की सर्वज्ञता

आज मैं भूमामानस की सर्वज्ञता के विषय में कुछ कहूँगा । भूमामानस सर्वज्ञ है । अणुमानस सर्वज्ञ नहीं होता है । ऐसा क्यों ?

अपनी सीमित क्षमता के कारण अणुमानस किसी एक भी भौतिक या मानसिक विषय पर पूर्ण चिन्तन या प्रतिविम्बन (रिफ्लेक्ट) नहीं कर पाता है । अतः वह सर्वज्ञ नहीं हो पाता । किन्तु जहाँ तक भूमामानस का प्रश्न है उसके क्षेत्र में सभी कुछ आ जाता है । उसको किसी विषय की जानने के लिए किसी प्रयास विशेष की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि सभी कुछ उनके अभ्यन्तर ही है और सभी कुछ उनके चित्ताणुओं के उत्सर्जन (फैलाव) के परिक्षेत्र में ही होते हैं । अणुमन एक विषय को, एक विषय विशेष को, एक समय विशेष के लिए ही न कि भविष्यकाल के न भूतकाल के सब समय विस्तार के लिए जान सकता है ।

कहा गया है, 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।' जब अणुमन स्वयं को भूमामन में रूपान्तरित करने की चेष्टा करता है तब उसमें सर्वज्ञता की इच्छा जाग्रत होती है । उसी अवस्था के विषय में कहा गया है, 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।'

अणुमन की दशा दयनीय है । तुम में से बहुत से यह नहीं जानते कि सौ वर्षों पूर्व तुम्हें क्या हुआ था । बहुत से यह नहीं जानते कि दो सौ वर्षों पूर्व तुम्हारा सामाजिक अवस्थान (स्टेटस) क्या था यद्यपि निश्चय ही तुम्हारा अपना एक सामाजिक अवस्थान विशेष था । एक सौ वर्ष पूर्व तुम्हें कुछ हुआ था किन्तु वह सब कुछ तुम भूल गये । किन्तु भूमामन सब कुछ जानते हैं । जब तुम भूमामन के अत्यन्त निकटवर्ती परिक्षेत्र में आते हो तो भूत, भविष्य और वर्तमान को देखते और जानने की क्षमता पा लेते हो किन्तु अपने सौ या दो

सौ वर्षों पूर्व की कथा जानने या भूलने से तुम अपनी प्रतिष्ठा नहीं बढ़ाते हो । तुम्हारे लिए यह प्रतिष्ठा का विषय नहीं है । रहस्य की सर्वोत्तम बात है, जो तुम कर सकते हो वह यह कि तुम उनके सन्निकट आ जाओ, उनसे निकट का सम्बन्ध बनाओ और उनसे प्रेम करने लगे और तब सब कुछ जान लो । लोग तब कहेंगे, 'यह छोटा लड़का कितना कुछ जानता है ।' वास्तव में 'छोटा लड़का' तो कुछ नहीं जानता किन्तु वह परम पुरुष से प्रेम करता है, इसीलिए वह सब कुछ जान गया है ।

अस्तु, जो कुछ भी भूमान को ज्ञान है वह सब कुछ उनकी अनन्त संरचना और अनन्त देह के अभ्यन्तर ही है, उनके बाहर कुछ है ही नहीं । सभी कुछ उनके आभ्यन्तरिक मानसिक परिक्षेत्र में, उनका अपना मानसिक प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) है । इसीलिए वे सब कुछ जानते हैं और सदा जानते रहेंगे । व्यष्टियों के लिए, अणुमानस के लिए प्रायः सभी कुछ बाह्यिक है । यही होती है उसकी अपूर्णता । अध्यात्म साधक की अध्यात्म साधना तब क्या है ? वह है एक प्रवाह (गति), अन्तहीन प्रवहमान गति, अपूर्णता से पूर्णता की ओर, प्राणकेन्द्र की ओर ।

भूमान के विषय में कहा जाता है कि सभी कुछ उनका आभ्यन्तरीय मानसिक प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) है और यह सम्पूर्ण सृष्टि उनकी कल्पनात्मक अभिव्यक्ति (साइकिक कोनेशन) है । इसीलिए उन्हें अंगों की आवश्यकता नहीं रहती है, न ज्ञानेन्द्रियों की, न कर्मेन्द्रियों की । सब कुछ उनके भीतर ही ज्ञान हो जाता है । किन्तु अणुमान के लिए अधिकारिक वस्तुएँ बाहर ही स्थित हैं, इसलिए अपने को अभिव्यक्त करने के लिए अणुमान को कर्मेन्द्रियों (मीटर आर्गन) की आवश्यकता पड़ती है । चूँकि भूमानस को प्रेरणात्मक या ग्रहणात्मक कर्मेन्द्रियों या ज्ञानेन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती है, इसीलिए वे अनन्त हैं । वे एक अशरीरी (नान कार्पोरेल) सत्ता हैं ।

जब सगुण सत्ता और निर्गुण सत्ता का मिलन बिन्दु (कामन प्वाइन्ट), सगुण और निर्गुण का स्पर्श रेखीय तत्व पाञ्चभौतिक शरीर के सम्पर्क में आ जाता है तो हम उसे कहते हैं तारक ब्रह्म का आविर्भाव । इस स्थिति में भी प्राणकेन्द्र (न्यूक्लियस) वहाँ रह जाता है । अतः वे भी बिना ज्ञानेन्द्रियों अथवा

कर्मेन्द्रियों की सहायता के सर्वज्ञ होते हैं । यही रहस्य है । परम पुरुष के विषय में कहा गया है—

“अपाणिपादो यवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥”

वह सब कुछ बिना हाथों की सहायता लिए करते हैं । पाणि अर्थात् हाथ ; एक पौराणिक देवी का नाम वीणापाणि है । परम पुरुष को 'पाणि' नहीं है किन्तु वे सब कुछ को स्पर्श करते हैं । उसके 'पाद' अर्थात् पैर नहीं है किन्तु वे सर्वत्र हैं, वे सर्वत्र घूमते हैं । एक ही समय वे पटना में हैं, मोकामा में हैं, समस्तीपुर में हैं और हैं सभी ग्रह-नक्षत्रों आदि सभी स्थानों पर । 'यवनो ग्रहीता' अर्थात् वे चलते फिरते हैं किन्तु बिना हाथ पैरों की सहायता के ।

मैंने कहा है कि वे स्वचक्रायित (सर्कमरोटेरी) सत्ता हैं । अंग्रेजी के 'सर्कमरोटेशन' शब्द का अर्थ है अपने ही चारों ओर घूमना और किसी अन्य के चारों ओर नहीं । 'पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः' । तुम भी समझ सकते हो कि अपनी मानसिक निर्मिति को देखने के लिए तुम्हें चाक्षुषी नाड़ियों की आवश्यकता नहीं पड़ती है, तुम्हें किसी बाह्य चक्षु परक दृष्टि की आवश्यकता नहीं होती । उस स्थिति में तुम सब कुछ देख लेते हो । उसी प्रकार परम पुरुष सबकी आन्तरिक भाषा बिना कानों की सहायता के सुन लेते हैं । प्रत्येक और सभी जीवों की न केवल बाह्य अभिव्यक्ति बल्कि अन्तरतम से उत्पन्न प्रत्येक इच्छा और आकांक्षा की अभिव्यक्ति को वे सुन लेते हैं । 'स वेत्ति वेद्यम् न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यम् पुरुषं महान्तम्' । वे जानने योग्य सभी कुछ जानते हैं जो भी ज्ञान किंवा विवेक के क्षेत्र में आता है, किन्तु कोई दूसरी सत्ता उन्हें जानने वाली नहीं है । उन्हें जानने के लिए जानने वाले को भूमानस के महासमुद्र में अपने को मिला देना होगा । कोई और विकल्प नहीं है ।

(पटना, ११ सितम्बर १९७८)

परमपुरुष का स्वगत कथन

परमपुरुष का स्वगत कथन क्या है ? स्वगत कथन है—

“मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

मयि सर्वं लयम् याति तद् ब्रह्माद्वयमस्यहम् ॥”

सब कुछ मुझसे ही आता है, मुझमें ही रहता है और पुनः मुझमें ही वापस चला जाता है ।

‘मय्येव सकलम् जातम्’ । सब कुछ मुझसे ही आता है अर्थात् परम पुरुष ने मन ही मन इच्छा किया कि ‘कुछ बनाया जाय किंवा मेरे विचारों का प्रक्षेपण हो, मेरे आभ्यन्तरीण मानस में ही विचारों का प्रक्षेपण हो और विश्व का निर्माण हो ।’ विश्व का निर्माण इसी प्रकार हुआ ।

उन्होंने इच्छा किया किन्तु क्यों इच्छा किया ? दार्शनिक उसका उत्तर देने में असफल हो जाते हैं । उन्होंने ऐसा की, क्योंकि वे विश्व का निर्माण करें । कौन उनको जान सकता है ? कौन उनका उद्देश्य जान सकता है कि उन्होंने विश्व का निर्माण क्यों किया ? किन्तु उन्होंने निर्माण किया । दार्शनिकों को यह ज्ञात नहीं है कि उनके मन में विश्व के निर्माण का भाव क्यों आया ।

कुछ ही दिनों पहले मैंने तुम्हें बताया था कि जहाँ दार्शनिक विफल हो जाते हैं भक्तगण सफल हो जाते हैं । यहाँ दार्शनिक इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर देने में असफल हो जाते हैं । न केवल इतना ही, बल्कि वे स्वयं को भी सन्तोषजनक उत्तर देने में विफल हो जाते हैं । किन्तु भक्त उत्तर दे सकते हैं क्योंकि उनके मन में परम पुरुष के लिए गहरा प्रेम है, आन्तरिक प्रेम है, अज्ञात प्रेम है, छिपा हुआ अन्तरतम का प्रेम है । वे कहते हैं, ‘हम

जानते हैं कि कारण क्या है । मेरे प्रभु अकेले थे । यदि आपको अकेले एक घर में रहने को विवश कर दिया जाय तो आप लगभग पागल हो जायेंगे, सम्पूर्ण विश्व में अकेले रहने की तो बात ही दूसरी है ।

“स वा एको तदा द्रष्टा न पश्यत्तदृश्यमेकराट् ।

मे ने सन्तमिवात्मानम् सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥”

‘मेरे प्रभु अकेले थे । उनके देखने की, सुनने की, सूँघने की, बोलने की कुछ भी और सब कुछ करने की क्षमता थी । किन्तु कोई दूसरी सत्ता नहीं थी जिससे वे बोलते, जिससे वे प्रेम करते, जिसे बताते, जिसे यह कहते हुए दण्ड देते कि, ‘मेरे पुत्र, तुमने त्रुटि क्यों की ? क्या तुम दण्ड के उपयुक्त नहीं हो ? तुम्हें दण्ड मिलना चाहिए ।’

उस समय वे किसी को दण्ड नहीं दे सकते थे क्योंकि तब वहाँ कोई और था ही नहीं । चूँकि उनके परे कुछ था ही नहीं, उनके बाहर भी नहीं । अतः वे किसी दूसरे को प्रेम करने के लिए या दण्ड देने के लिए पा नहीं सकते थे । मैंने ‘घृणा’ शब्द का प्रयोग नहीं किया है क्योंकि वे घृणा करना जानते ही नहीं ।

वे दो कार्य नहीं कर सकते । वे यह नहीं जानते कि घृणा कैसे की जाती है और वे यह भी नहीं जानते कि दूसरा परम पुरुष कैसे बनाया जाय । वे हमेशा एकल सत्ता के रूप में रहते हैं ।

अतः उन्हें अपने मन में ही अपने विचारों के आभ्यन्तरिक प्रक्षेपण के रूप में सृष्टि करनी पड़ी । इसलिए उनका स्वगत कथन है, ‘मय्येव सकलं जातं ।’

‘मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।’ सृष्टि के बाद उन्हें सृष्टि की देख-रेख भी करनी होगी । और कौन है जो यह करता या इसका उत्तरदायित्व लेता ? चूँकि दूसरा कोई और संरक्षक नहीं था जो सृष्टि की देख-रेख करता । अतः अपनी सृष्टि की देख-रेख उन्हें स्वयं करनी पड़ी । सृष्टि के देख-रेख का उत्तरदायित्व भी उन्हीं को और मात्र उन्हीं को सम्भालना पड़ा ।

‘मयि सर्वं लयम् याति’ । तुम जानते हो कि सब कुछ चलायमान है । यह विश्वब्रह्माण्ड एक चलता हुआ खेल है, एक चलमान सत्य है, त्वरित

परिवर्तनीय आलेख्य है। चूँकि विचार प्रवाह चलमान है अतः यह विश्व भी चलमान है, सब कुछ ही चल रहा है। संस्कृत में यह विश्व संसार (सं-सृ+घञ्) कहा जाता है जिसका अर्थ होता है जिसका चलना स्वभाव है। यह विश्व जगत् भी कहा जाता है (गम् + क्विप्) जिसका अर्थ है चलायमान। अतः चूँकि विचार चल रहे हैं अतः सब कुछ चल रहा है।

यह विचारतरंग संकोच-विकाशी (सिस्टैल्टिक) क्रम में स्पन्दनात्मक (पल्सेटिव) गति से चलते हैं। चलने के बाद यह सृष्ट प्राणी कहाँ जायें? अन्ततः उन्हें मिल जाना पड़ता है, उन्हें वापस उसी प्रारम्भ बिन्दु में लौट आना पड़ता है और वही होता है उनकी अन्तविन्दु भी। इसीलिए स्वगत कथन है 'मयि सर्वं लयम् याति।'।

सब कुछ मुझमें ही वापस आ जाता है, कोई दूसरा विकल्प है ही नहीं। 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।' मात्र यही एक वर्तुल रास्ता है जिसे ब्रह्मचक्र अथवा भूमाचक्र कहते हैं। 'तद्ब्रह्माद्वयमस्यहम्'। 'यह मेरा अपना है, यह मेरे अपने हैं। मैं अपने सृष्टि, स्थिति, पालन-पोषण और अन्ततः सब कुछ को अपने में वापस ले लेने के कर्तव्य में लगा हुआ हूँ। यह मेरा कर्तव्य है और इस कर्तव्य के कारण ही मैं ब्रह्म के नाम से जाना जाता हूँ।

'मैं एकल तत्त्व हूँ। दो ब्रह्म नहीं हो सकते। दो परमपुरुष नहीं हो सकते। मेरी बस दो अपूर्णतायें हैं। प्रथमतः मैं दो परम पुरुष नहीं बना सकता। जो मुझसे प्रेम करते हैं वे मुझसे मिलकर एकाकार हो जाते हैं, वे अपना अलग व्यक्तित्व नहीं रख सकते। इसीलिए मैं सदा अकेला 'एकल तत्त्व' रह जाता हूँ। दूसरी बात यह है कि चूँकि हर चीज मेरी सृष्टि है अतः यह सब कुछ मेरी सन्तान हैं, मेरे बालक-बालिका हैं। इसीलिए मैं किसी भी चीज से घृणा नहीं कर सकता। मैं सृष्टि, स्थिति और संहार के कार्य में व्यस्त रहता हूँ और मेरे लिए विश्राम करने का समय नहीं है।'

(पटना, १२ सितम्बर १९७८)

प्रेम-अपरिहार्य प्राक आवश्यकता

जैसा तुमलोग जानते हो कड़ी हर प्रकार से सावधानीपूर्वक क्यों न बनाई जाय वह ग्रहणीय नहीं होगी यदि उसमें नमक न मिलाया जाय। इसी प्रकार सान्त को अनन्त से मिलाने का सारा प्रयास असफल हो जायेगा यदि उसमें प्रेम न रहे।

कर्म का उदाहरण लो। साधक कर्मयोगी है तो भी उसके सारे प्रयास निश्चय ही असफल हो जायेंगे यदि भक्ति की कमी हो। कर्म की महत्ता तभी होती है जब वह परम पुरुष के प्रति प्रेम और भक्ति से सम्बन्धित हो। अन्यथा कर्म यन्त्रवत् हो जाता है और थोड़े ही समय में जो थोड़ी बहुत अन्तर्मुखी प्रवृत्ति प्रारम्भ में रहती भी है वह भी कुछ समय बाद समाप्त हो जाती है और तब यह गति पूर्णतया बहिर्मुखी हो जाती है। अर्थात् मनुष्य का अस्तित्व ही मात्र मशीन बन जाता है। अतः कोई भी भूमा लक्ष्य की प्राप्ति कर्म के माध्यम से नहीं कर सकता है जब तक कि वह कर्म परम पुरुष के प्रति प्रेम किंवा भक्ति से सम्बद्ध न रहे।

अब देखा जाय कि यदि कोई तपस्या में लगा है तो क्या होगा। तपस्या का तात्पर्य होता है स्वेच्छा से लक्ष्य प्राप्ति कम समय में ही कर लेने के उद्देश्य से कठिनाई सहना। यदि ऐसी तपस्या करते समय परम पुरुष के प्रति प्रेम न हो तो क्या होगा? यह तपस्या और कुछ नहीं है सिवाय समय व्यर्थ बिताने के। बिना प्रेम के तपस्या करना समय का अपव्यय करने के अतिरिक्त भौतिक और मानसिक देह दोनों के लिए क्षतिकारक होता है। परिणाम निःसन्देह बुरा होगा।

योग क्या है? 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। योग मानसिक वृत्तियों के स्तम्भन का नाम है। अब यदि इस स्तम्भन काल में साधक को परम पुरुष के प्रति

प्रेम है तो यह सभी स्तम्भित वृत्तियाँ परम पुरुष पर आधृत होंगी। मान लो कि कोई बड़ा योगी है किन्तु यदि उसे परम पुरुष से प्रेम नहीं है तो वे स्तम्भित वृत्तियाँ अन्ततः स्थूल पदार्थ में रूपान्तरित हो जायेंगी। अर्थात् मानव की सूक्ष्म मानस सत्ता एक लोहा के समान, एक लकड़ी के समान अथवा बालू के समान बन जायेगी। यह कितना बड़ा पतन होगा ! कितनी बड़ी विकृति होगी ! इस प्रकार का योग जिसमें परम पुरुष के प्रति प्रेम नहीं होता है संस्कृत में 'हठयोग' कहा जाता है। यह मनुष्य के विकास के लिए एक खतरा है। 'हठ' शब्द 'ह' और 'ठ' से बनता है। 'ह' का तात्पर्य है सूर्यनाड़ी या इडा नाड़ी और यह भौतिक शक्ति का बीजमन्त्र है। 'ठ' का तात्पर्य है चन्द्रनाड़ी या पिंगला नाड़ी और यह मन का बीजमन्त्र है। अतः हठ का अर्थ हुआ मन की शक्तियों का भौतिक शक्ति के माध्यम से नियन्त्रण। सामान्यतः जब सहसा अथवा एकाएक कोई कार्य घटित हो जाता है तो हम 'हठात्' शब्द का प्रयोग करते हैं, अर्थात् 'हठेन कुरुते कर्म'। स्पष्टतः हठयोग का अभ्यासी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

मान लो कोई व्यक्ति ज्ञानी है, बुद्धिजीवी है किन्तु उसको परम पुरुष के प्रति प्रेम या भक्ति नहीं है। इससे लोग उसे 'ज्ञानी' मानते हैं और कहते हैं कि वह यह जानता है, वह जानता है। किन्तु परमात्मा के बिना ज्ञान केले के छिलके के समान है। यह वास्तव में केला नहीं है, यह तो मात्र केले का छिलका है। किसी को वह रुचिकर नहीं लगेगा। उसका ज्ञान 'पराविद्या' नहीं है बल्कि उसका ज्ञान 'अपराविद्या' है अर्थात् उसका सापेक्ष ज्ञान जड़वादी चिन्तन के क्षेत्र का है। पिछली शताब्दी में इस प्रकार का जड़-भौतिक ज्ञान जो स्थूल जड़वाद से सम्बन्धित था मानव समाज के लिए अत्यन्त क्षतिकारक सिद्ध हुआ। इसने सम्पूर्ण मानव समाज को दिग्भ्रमित कर दिया। इसने मनुष्यों को पशु बना दिया और पशुओं का भी शोषण इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों द्वारा हुआ।

“प्रेयस्करा या बुद्धिः सा बुद्धिः प्राणघातिनी।

श्रेयस्करा या बुद्धिः सा बुद्धिः मोक्षदायिनी ॥”

यह कहा गया है कि सभी ज्ञान चाहे 'परा' हों या 'अपरा' दूध के महा

समुद्र के समान हैं। इस दूध के महासमुद्र को मथने से तुम्हें क्या मिलेगा ? तुम्हें मिलता है छाँछ और मक्खन। भक्तगण इस मथे दूध से प्राप्त मक्खन का उपयोग करते हैं, शेष भाग ज्ञानियों के लिए बचा रहता है। बुद्धिवादी उस शेष छाँछ के स्वामित्व के लिए आपस में लड़ते हैं। अन्ततः वह छाँछ भी सड़ जाता है और वे चूँकि इस निर्णय पर नहीं पहुँच पाते कि कौन उसका स्वामी है। अतः वे उसका भी उपयोग नहीं कर पाते हैं।

भक्ति के कई प्रकार हैं। तीन मुख्य प्रकार की भक्ति होती है। जैसे— सात्विकी, राजसिकी और तामसिकी भक्ति। तामसिकी भक्ति का तात्पर्य है जड़ प्रेम। वास्तव में यह भक्ति है ही नहीं क्योंकि प्रायः मनुष्य इसके माध्यम से अपने शत्रुओं का नाश चाहता है। चूँकि परम पुरुष इसके लक्ष्य नहीं होते अतः स्पष्ट है कि उसे परम पुरुष की प्राप्ति नहीं होती। राजसिकी भक्ति का तात्पर्य है राजसी प्रेम। इस प्रकार की भक्ति में मनुष्य भौतिक सम्पदा चाहता है। अतः इस प्रकार की भक्ति से उसे भौतिक सम्पदा मिले अथवा नहीं किन्तु परम पुरुष चूँकि उसके लक्ष्य नहीं हैं। अतः परम पुरुष उसे नहीं मिलते। सात्विकी भक्ति या सात्विक प्रेम में लक्ष्य होते हैं परम पुरुष। साधकों को चाहिए कि वे उनकी ही कामना करें, मात्र उनकी। मानवीय प्रयासों का चरम लक्ष्य यही है।

(पटना, १३ सितम्बर १९७८)

ईश्वर के मौलिक लक्षण

आज मैं ईश्वर के कुछ प्रधान लक्षणों के विषय में कहूँगा—लक्षण जो उनके 'ईश्वर' के रूप में दिखने के लिए आवश्यक हैं।

कहा गया है, 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।' वह सत्ता जिसको अभिभूत नहीं किया जा सकता और जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय की प्रमुख वृत्तियों से अप्रभावित रहती है योही ईश्वर कहते हैं, अन्यथा वे भगवान् कहे जा सकते हैं अथवा उनके लिये हम कोई और सम्बोधन प्रयोग करेंगे किन्तु 'ईश्वर' नहीं।

क्लेश क्या है ? कुछ मानसिक वृत्तियाँ होती हैं। मैं मानसिक वृत्तियाँ इसलिए कह रहा हूँ कि इस सन्दर्भ में अथवा कुछ अन्य सन्दर्भों में भी इसका कोई सम्बन्ध स्नायुतन्तुओं से अथवा स्नायुकोषों से नहीं है। जब मानसिक भावनाओं का स्पन्दन नाड़ियों के अभिव्यक्तिजनक स्पन्दनों से सन्तुलन नहीं बना पाता तब वह वृत्तियाँ या नियन्त्रक वृत्तियाँ क्लिष्टावृत्ति या 'क्लेश' कही जाती हैं। जब वे सन्तुलन बनाने में समर्थ होती हैं तो वे कही जाती हैं 'अक्लिष्टावृत्ति'। ईश्वर के सम्बन्ध में मानसिक स्पन्दनों और नाड़ी स्पन्दनों के बीच सन्तुलन बनाने का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि उनका अस्तित्व पूर्णतया आभ्यन्तरीण होता है। वहाँ किसी अन्य से सन्तुलन बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः वे क्लिष्टा वृत्ति से मुक्त होते हैं।

मनुष्यों में क्लेश वृत्ति अविद्या के कारण उत्पन्न होती है। अविद्या अर्थात् प्रमुख अज्ञान के पांच चरण होते हैं। यह पांच चरण हैं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अविद्या के यही पांच रूप क्लिष्टा वृत्ति को जन्म देते हैं।

अविद्या :- "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या"।

जब अनित्य अशुचि और दुखात्म वृत्तियाँ नित्य, शुचि और सुखात्म के रूप में व्यवहार में होती हैं तो उसे कहते हैं अविद्या। इस पाञ्चभौतिक जगत में सब कुछ क्षण-भंगुर है। किन्तु जब, अविद्या के प्रभाव से अर्थात् विशेष अज्ञान के कारण कोई यह सोचता है कि यह सब उसके पास जैसा है वैसा ही रह जायेगा तो यह त्रुटिपूर्ण चिन्तन धारा अविद्या कहलाती है। अर्थात् जब वह अनित्य को नित्य, अशुचि को शुचि, सांसारिक कष्टों को आनन्द और भौतिक को अभौतिक किवा आध्यात्मिक समझने लगता है तो यह कहा जाता है 'अविद्या'। यह सब अविद्या के विभिन्न प्रकार हैं। यह उसी प्रकार का चिन्तन है जैसे कुत्ता हड्डी चबाते हुए सोचता है। हड्डी में कुछ नहीं होता है। हड्डी चबाते समय कुत्ते की जीभ कट जाती है और उससे रक्त निकलने लगता है। कुत्ता स्वयं अपना ही रक्त चूसता है और समझता है कि यह रस हड्डी से निकलता है। यद्यपि कुत्ता स्वयं ही घायल हो रहा है किन्तु वह हड्डी चूस-चूस कर प्रसन्न होता है। अविद्या के प्रभाव से ऐसा ही होता है। अविद्या के प्रभाव से स्थूल, निर्जीव और निष्प्राण विषयों को मनुष्य प्रकाशवान्, जीवित किवा आध्यात्मिक मूर्तियाँ मान बैठता है। यह सब कुछ अविद्या के प्रभाव से होता है।

अस्मिता :- 'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैर्वाहस्मिता'। अविद्या का दूसरा भेद 'अस्मिता' के नाम से जाना जाता है। जब कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय कार्य करते हैं तो मन देखता है। यदि मन नहीं होता तो ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के कार्य अनदेखे ही रह जाते। इसी प्रकार मन जो भी करता है उसे भी देखना द्रष्टा तत्त्व की उपस्थिति के कारण है। यदि आत्मा या द्रष्टा तत्त्व नहीं होता तो सम्पूर्ण मानसिक अनुभव अजाने ही रह जाते। किन्तु उसी मूलभूत अविद्या के कारण लोग सोचते हैं कि मानसिक क्रियायें और उनका द्रष्टा तत्त्व दोनों एक ही हैं। इस प्रकार का अज्ञान 'अस्मिता' नाम से जाना जाता है। आँखों का कार्य है 'देखना' किन्तु आँखें अपना कर्तव्य करने में सक्षम हों तभी सकती हैं जब उनसे मन जुड़ा हो। शक्ति जिसके द्वारा आँखें देखती हैं वह दर्शन नाम से जानी जाती है। इसी शक्ति और मन के द्वारा देखने की क्रिया सम्पन्न होती है। इसीलिए मन का अस्तित्व आवश्यक है। इस सन्दर्भ

में 'मन' को ही 'दृक् शक्ति' कहा जाता है ।

हाथों द्वारा किए कार्य शिल्प कहे जाते हैं किन्तु आजकल प्रसिद्ध गायक भी 'कण्ठ शिल्पी' कहे जाते हैं । कोई 'शिल्प' कण्ठ के द्वारा सम्भव नहीं हो सकता । हाथों से किया गया कार्य "'शिल्पन क्रिया' कहा जाता है और पैरों द्वारा किया कार्य 'चरण क्रिया' । कर्मइन्द्रियों द्वारा अवश्य ही किए जाते हैं किन्तु तभी जब मन देखता रहे, अन्यथा नहीं । इन्द्रियों के कार्यों को मन ही शक्ति देता है । इसीलिए यदि इन्द्रियों को कहे 'कर्म शक्ति' तो मन को कहेंगे 'कृत् शक्ति' । 'कृत शक्ति' के अभाव में लोग 'कृत' और 'कर्म' को एक और समान समझ लेते हैं । इसी प्रकार वे 'दृक्' और 'दर्शन' में भी घपला कर देते हैं । जो ऐसा कहते हैं, वे अवोध हैं । अविद्या जो इस प्रकार का अज्ञान पैदा करती है उसे 'अस्मिता' कहते हैं ।

राग :- राग क्या है ? बुरी पुस्तकों या संगति जैसे बाहरी प्रभावों के कारण जब मनुष्य किसी विषय के प्रति अपने में दुर्बलता का अनुभव करने लगता है अथवा उसकी ओर चलने लगता है और उसके पीछे कोई तर्क-सम्मत दृष्टिकोण नहीं रहता तो अविद्याजनित इस मानसिक अवस्था को 'राग' नाम से जाना जाता है ।

द्वेष :- अविद्या का चौथा स्तर है 'द्वेष' । द्वेष जनमता है—किसी अन्य तत्त्व के व्यष्टिगत या बौद्धिक प्रभाव के परिणाम स्वरूप । जब मनुष्य किसी विषय विशेष के प्रति बिना किसी तर्क या युक्ति के घृणा करने लगता है तो उस चिन्तनधारा (वृत्ति) को द्वेष कहा जाता है ।

अभिनिवेश :- 'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ।'

अन्तिम किन्तु सबसे घातक अविद्या का रूप है 'अभिनिवेश' । यहाँ तक कि विद्वान और ज्ञानी तथा पढ़े लिखे लोग यह जानते हैं कि यह क्या है या वह क्या है । यह जानते हुए भी वे किन्हीं मानसिक वृत्तियों के वशीभूत होकर अन्यथा व्यवहार करने लगते हैं । स्वभाव की यह दुर्बलता अभिनिवेश नाम से जानी जाती है । तुम लोगों ने किसी किसी अध्यापक को इस प्रकार उंगलियाँ घुमाते देखा होगा, जैसे वे बेंत मार रहे हैं । कक्षा में वे बेंत का

प्रयोग करते हैं । अब जबकि उनके हाथ में बेंत नहीं है फिर भी उंगलियों को उसी प्रकार घुमाते हैं । शराबी जानता है कि शराब पीना बुरा है । फिर भी वह उसका पीना छोड़ नहीं पाता । यह सब 'अभिनिवेश' के उदाहरण हैं ।

इन पाँचों प्रकारों की अविद्या से उत्पन्न वृत्तियाँ 'क्लिष्टा वृत्ति' कही जाती हैं । यह मुख्यतया प्रमाण, विकल्प, निद्रा, स्मृति और विपर्यय हैं ।

प्रमाण :- प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।' अर्थात् जो भी कोई अनुभव अपनी इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त करता है वह 'प्रत्यक्ष' और जो अन्दाज से जानता है उसे 'अनुमान' कहते हैं । धुँआँ देखकर वहाँ आग होने के निर्णय पर पहुँचना 'अनुमान' है । आप्तवाक्य के दिशा निर्देश को नहीं मानता ।

विपर्ययो :- मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । हमलोग बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो अस्तित्व में नहीं रहते । हम कहते हैं कि "हम पटना शहर के 'हृदय' में बसे हैं ।" या "सुन्दर भवन पटना के हृदय में बना हुआ है ।" पटना शहर एक जड़ वस्तु है । क्या उसका कोई हृदय होगा ? हृदय जीवित शरीर में होता है । पटना पूर्णतया अजीवी है । यह पूर्णतया जड़तमक है, इसमें कोई जीवन नहीं है । इसके कोई हृदय नहीं होता । फिर भी ऐसा कहा जाता है कि अमुक भवन पटना के हृदय में स्थित है । इस तरह की भाषा का प्रयोग विपर्यय है । कभी कभी हम इस श्लोक की भाषा का प्रयोग करते हैं :

"मृगतृष्णाभ्रसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः ।

एषो बन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धरः ॥"

हम ऐसी भाषा पसन्द करते हैं किन्तु यह सब अविद्या है, क्लिष्टा वृत्ति के अन्तर्गत है । श्लोक का अर्थ है मृगजल में स्नान करने के बाद (मृगजल रेगिस्तान में दिखाई देता है, वास्तव में होता नहीं और न वहाँ पानी ही रहता है) और आकाशकुसुम के फूलों से बने मुकुट को पहने (जबकि वास्तव में आकाश में कोई फूल नहीं होता) बन्ध्यापुत्र (जबकि बन्ध्या के पुत्र हो ही नहीं सकता) शशक अर्थात् खरगोश की सींगों से बने धनुष से बाण चलाता है ।

विकल्प :- 'शब्द गुणानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' । इसी प्रकार विकल्प का हमलोग कभी उपयोग करते हैं तो कभी दुरुपयोग । उदाहरण के लिए,

तुम आरा से पटना आ रहे हो । फुलवारीशरीफ पार करने के बाद तुम कहते हो 'पटना आ गया'। नहीं, पटना नहीं आया । पटना जहाँ था वही है । तुम हो जो कि पटना के समीप आ गये हो । तुम कहते हो 'यह सड़क वाराणसी जाती है ।' किन्तु सड़क वाराणसी नहीं जाती । तुम हो जो वाराणसी जाते हो ।

निद्रा और स्मृति की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है ।

'क्लेश' में यह सभी क्लिष्टा वृत्तियाँ हैं ।

अब आता है कर्म । कर्म का अर्थ है वस्तु का स्थान परिवर्तन । जिस प्रक्रिया के द्वारा स्थान परिवर्तन होता है उसे कहते हैं कर्म । परम पुरुष के सम्बन्ध में, सब कुछ उनके अभ्यन्तर ही है अतः स्थान परिवर्तन या दूरी के घटने बढ़ने का प्रश्न नहीं उठता । अतः वे कर्म से या कर्मफल से प्रभावित नहीं होते ।

'विपाक' का अर्थ है प्रतिक्रिया या प्रतिक्रिया का बीज । जब भी कर्म होगा तब उसके समान और विपरीत प्रतिक्रिया होगी किन्तु शर्त यह है कि तीन मूल आधारभूत तथ्य देश, काल और पात्र अर्थात् समय तत्त्व, स्थान तत्त्व और पात्रिक तत्त्व अपरिवर्तित रहें । यदि देश तत्त्व, काल तत्त्व या पात्र तत्त्व में परिवर्तन हो जायेगा तो समान और विपरीत प्रतिक्रिया नहीं होगी । यह प्रतिक्रिया तब कम या अधिक हो सकती है । प्रत्येक कर्माभिव्यक्ति में यह तीनों तत्त्व बदल ही जाते हैं । अतः प्रतिक्रिया कभी समान और विपरीत नहीं होगी । मान लो, कोई सौ रुपये उधार लेता है । वापस करने के समय, समय का अन्तराल आ जाने से, मूल धन पर व्याज लग जाता है, अतः देय धनराशि एक सौ पांच या एक सौ दस हो जाती है । एक व्यक्ति कोई त्रुटि करता है और बाबा के पास आता है और दण्ड चाहता है । बाबा उसे पाप की मात्रा के अनुसार दण्ड देंगे या तो कम या अधिक । समय के परिवर्तन के कारण दण्ड की मात्रा वही नहीं रहेगी । यह प्रतिक्रिया ही संस्कृत में 'विपाक' नाम से जानी जाती है । जब कभी कर्म होता है, कर्म के परिणामस्वरूप प्रभाव विस्तार होता है, कर्म प्रभावी होता है, अभिभावी (प्रिवेलिंग) अथवा प्रभावकारी होता है तो प्रतिक्रिया अवश्य होगी । किन्तु परम पुरुष के सम्बन्ध में यह बात नहीं लागू होती । सभी उनके भीतर ही

होते हैं, उनके भूमा मानस ढाँचे के अन्दर होते हैं । उनके विषय में प्रतिक्रिया से प्रभावित होने का अवसर नहीं है, अतः उनका विपाक से प्रभावित होने का प्रश्न नहीं उठता ।

आकार :— 'आशय' का अर्थ है रखने का 'पात्र' । हमारे विश्व की प्रत्येक अभिव्यक्ति, प्रत्येक सत्ता किसी न किसी आधार की अपेक्षा रखती है अर्थात् एक पात्र जिसमें उसको रखा जा सके । कोई भी बिना आधार के रह नहीं सकता है । चाहे वह कोई विचार हो, कोई कर्म हो, आधार उसे अवश्य ही चाहिए, विशेष तौर से स्थूल अथवा भौतिक शरीर के लिए । लगभग ४००० वर्ष पूर्व पटना शहर का नाम था कुसुमपुर । अशोक के समय इसका नाम हुआ पाटलिपुत्र । उसके बाद गंगा और सोन नदियों की बाढ़ के कारण यह नष्ट-भ्रष्ट हो गया । उसके बाद एक नया निर्माण हुआ, एक नया शहर बसाया गया । इस प्रकार बसाये जाने के कारण इसका नाम पड़ा संस्कृत में 'पत्तन' । 'पत्तन' से यह बना 'पटना' । पटना 'पत्तन' से आया है, पाटलिपुत्र से नहीं, क्योंकि पाटलिपुत्र अपने में एक बड़ा शब्द था । जिससे 'पटना' शब्द का विवर्तन सम्भव नहीं है ।

पटना शहर का 'आशय' पटना जिला है । पटना जिला है पटना कमिश्नरी में, पटना कमिश्नरी बिहार राज्य में, बिहार राज्य भारतवर्ष में, भारतवर्ष एशिया में और एशिया इस पृथ्वी ग्रह में । पृथ्वी के अनेक नाम हैं संस्कृत में जैसे— भू, भूमि, धरा, धरित्री, सर्वसहा, बसुमती, गोत्र, कु— पृथ्वी, पृथिवी, क्षमा, अवनी, मेदिनी और मही आदि । इस पृथ्वी ग्रह का आशय यह सौरमण्डल और सौरमण्डल के आशय परम पुरुष । किन्तु परम पुरुष के लिए कोई आशय नहीं । उन्हें किसी छाँह की आवश्यकता नहीं रहती । अतः वे किसी छाँह किंवा आश्रय से प्रतिबद्ध नहीं होते । इसीलिए कहा गया है :—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः' वह 'विशेष पुरुष' यह जीवात्मायें नहीं, बल्कि वह आत्मा जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अप्रभावित रहते हैं 'ईश्वर' नाम से जाने जाते हैं ।

मुगल काल में दिल्ली के राजा कभी-कभी ऐसा सोचने लगते थे कि वे दिल्लीश्वर हैं अथवा जगदीश्वर । वे यह तथ्य भूल जाते थे कि वे न तो दिल्लीश्वर थे न जगदीश्वर । वे मात्र एक साधारण जीवात्मा थे ।

(पटना, १४ सितम्बर १९७८)

मोक्ष और देहधारी जीव

सभ्यता के ऊषाकाल से ही मनुष्य मोक्ष के विषय में चर्चा करता चला आ रहा है। वह अतिमानस अस्तित्व (Supra-Psychic existence) जो देहधारी जीवों के सम्पर्क में रहता है और उस देह को अपने प्रसरण और प्रसर्जन (एमिटेन्स एण्ड इमेनेशन) के माध्यम के रूप में प्रयोग करता है मोक्ष प्राप्त कर सकता है। भगवान सदा शिव ने कहा है :-

“ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा मुक्तो भवति देहभृत् ।”

देहधारी होने के बावजूद मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है यदि वह अणुचेतना के भाव को भूमाचेतना में रूपान्तरित कर सके। इस अतिमानस सत्ता के अस्तित्व में ही मोक्ष प्राप्त करने की सम्भावना और सामर्थ्य सन्निहित है।

भूमानस में जो अनन्त है वही सान्त रूप में अणुमानस में निहित है किन्तु सम्भावना समान है। अतः जो अपेक्षित है वह जो सीमित सम्भावना है उन्हें आध्यात्मिक साधना (mystic approach) से अनन्त में बदल देना है। यह मिस्टीसिज्म क्या है? मिस्टीसिज्म है असीम के साथ ससीम को जोड़ने का सीमाहीन प्रयास। जब वह सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तब शिव वाक्य सत्य हो जाता है अर्थात् शिव वाक्य फलीभूत हो जाता है।

शिव वाक्य है—‘ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा मुक्तो भवति देहभृत् ।’ ब्रह्म वन्दना में कहा गया है कि वे परेश है। ‘परेश’ क्या है? प्रत्येक और सभी सत्ता का दो पक्ष है—पर और अपर। एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं—पर और अपर। दृष्ट पक्ष, कर्म पक्ष अपर है और द्रष्टा पक्ष पर है। जो तुम अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के माध्यम से देखते या करते हो अथवा जो प्रथम स्तर में बाह्य विषय है वह अपर है और तुम्हारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ पर हैं। दूसरे स्तर में दूसरा जो आन्तरिक पक्ष है वहाँ इन्द्रियों के द्वार अपर है और मन पर है। फिर

इसके बाद और अन्तस्तल में तुम्हारा मन अपर है और अणुचेतन्य पर है और अन्तिम स्तर में तुम्हारा अणुचेतन्य अपर है और वह सर्वोच्च परा है। ‘वे’ सभी परा के मालिक हैं, अतः वे ‘परेश’ (पर+ईश) हैं।

अतः जब कोई अपनी वृत्तियों को विषय जगत से विषयी सत्ता की ओर प्रत्याहृत (विदड़ा) करता है तो वह परेश को पा लेता है। तब वह ‘परेश’ से एकाकार हो जाता है और साधना का यही रहस्य है।

वह सर्वोच्च सत्ता परेश है और प्रभु है। ‘प्र’ का अर्थ है ‘प्रकृष्ट’ अर्थात् सर्वोत्तम और ‘भू’ का अर्थ है ‘अस्तित्व’। ‘प्रभु’ का अर्थ हुआ ‘सर्वोत्तम अस्तित्व’। वे सम्पूर्ण विश्व के ‘प्रभु’ हैं।

शिव वाक्य की प्रतिष्ठा कई प्रकार से हो सकती है। कहा जाता है कि वे ‘सर्वेन्द्रियागम्य’ हैं अर्थात् उन्हें इन्द्रियों के माध्यम से नहीं पाया जा सकता है। इन्द्रियाँ क्या हैं? पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और ग्यारहवाँ इन्द्रिय है ‘मन’। सर्वेन्द्रियागम्य (सर्व+इन्द्रिय+अगम्य) का अर्थ हुआ इन सभी इन्द्रियों के अगम्य।

‘यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुंसि पश्यति’। वह जिन्हें आँखें देख नहीं सकती किन्तु जिनसे आँखें देखने की शक्ति पाती है वे ही सर्वेन्द्रियागम्य हैं। इन्द्रियाँ उन्हें पकड़ नहीं सकतीं।

यहाँ तुम लोगों को स्मरण रखना चाहिए कि सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है यह स्मरण रखना कि मन भी एक इन्द्रिय कहा गया है, ग्यारहवाँ इन्द्रिया अतः इसीलिए वेदों में भी कहा गया है :

“यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान मा विभेति कुतश्चन ॥”

अर्थात् जहाँ इन्द्रियों की सभी अभिव्यक्तियाँ, सभी तान्मात्रिक स्पन्दन असफल हो जाते हैं और मन भी असफल हो जाता है वही सर्वोच्च द्रष्टा हैं। जब वह मन इन्द्रियों सहित प्रत्याहृत (वापस) करके उनमें प्रेषित कर दिया जाता है तब वह उनमें प्रतिष्ठित हो जाता है, तब उस अवस्था को कहते हैं सर्वोच्च अवस्था—परमास्थिति। तब वहाँ कोई भय नहीं रहता। यह चरम सत्य है अर्थात् वहाँ सत्य पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया, यही ‘सत्य’ कहा

जाता है। 'सत्' का अर्थ है जो परिवर्तित नहीं होता। अतः हमारे इस विश्व में वह 'परेश', वह सर्वेन्द्रियागम्य तत्त्व ही मात्र सत्य है।

मैं श्लोक की शाब्दिक व्याख्या नहीं कर रहा हूँ, मैं मात्र 'सत्य' की व्याख्या कर रहा हूँ।

परम पुरुष तुम्हारे मानसिक विषय नहीं हो सकते। एकदिन मैंने तुम्हें बताया था कि ध्यान करते समय तुम उन्हें अपने विषय के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते हो क्योंकि वे तुम्हारे विषयी (द्रष्टा) हैं। सब कुछ उनका विषय है। वह सर्वोच्च विषयी (द्रष्टा) हैं। तब वह जप और ध्यान के समय तुम्हारे विषय कैसे हो सकते हैं? वे तुम्हारे विषय नहीं हो सकते। तो आवश्यकता क्या है, और यही वह माधुर्य भी सन्निहित है कि जब तुम जप और ध्यान करते हो तो सोचो कि 'वे तुम्हें देख रहे हैं।' तुम उनके विषय हो। यह बात तुम्हें सदा जप और ध्यान करते समय स्मरण रखना होगा। यही विचार विशेष्य है, यही मूल तत्त्व है। वे अचिन्त्य हैं। तुम उनके चिन्त्य हो।

'अक्षर' का तात्पर्य है वह जिसमें अपक्षय या हास नहीं होता। वे 'अचिन्त्याक्षर' हैं।

उनके लिए एक और विशेषण प्रयोग में आता है, 'जगद्भासकाधीश'। जगत् का अर्थ चलमान सत्ता है। इस अभिव्यक्त संसार में सब कुछ चल रहा है। मैं इसे कहता हूँ चलमान आलेख्य (चित्रावली) (मूविंग पैनोरमा)। 'जगद्भासकाधीश' क्योंकि इस सृष्ट संसार में उन्हीं के कारण सब कुछ चमकता है अर्थात् वही प्रकाश के सर्वोपरि स्रोत हैं, अपितु वही प्रकाश के एक मात्र स्रोत हैं। हमलोग अपोलोया सूर्य से प्रकाश और शक्ति पाते हैं किन्तु सूर्य सब कुछ उन्हीं से प्राप्त करता है।

वे परमपिता हैं, सभी ज्योतियों के सर्वश्रेष्ठ श्रोत हैं, परम 'सविता' हैं। इसीलिए सबितृ ऋक् में उन्हें 'सविता' के नाम से अभिहित किया गया है। प्रत्येक और सभी सत्ताओं में प्रकाश उनसे ही मिलता है। इसीलिए वे 'जगद्भासकाधीश' हैं। चूँकि सबको प्रकाश उनसे ही मिलता है इसलिए वह

प्रत्येक और सभी सत्ताओं के निकट सम्बन्ध में है—चाहे वे सत्तायें महत्वपूर्ण हों या महत्वपूर्ण नहीं हों। अतः यदि तुम न प्रकाश की किरणों का अनुगमन करोगे, तुम उनके उत्स की ओर बढ़ोगे तो तुम उस परम केन्द्र तक पहुँच जाओगे। अतः भगवान् शिव ने जो कहा वह ठीक है, शत-प्रतिशत ठीक है 'ब्रह्मैवाहिमिति ज्ञात्वा मूक्तो भवति देहभृत्'। अन्ततः उस प्रकाश किरणों की विपरीतधारा में चलकर जब साधक उनके मूल स्रोत पर पहुँच जाता है तब वह अनुभव करता है कि मूलतः ब्रह्म ही है। इस अध्यात्म पथ को पकड़कर चलने से मूक्तो भवति देहभृत्, वह परा-मानसिक अस्तित्व जिसने प्रथमतः समीपस्थ देह यन्त्र स्वीकार किया है अपने प्रसरण और प्रसर्जन (एमिटेन्स एण्ड इमेनेशन) के लिए वह अन्ततः मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है।

शिव वाक्य सत्य था, शिव वाक्य सत्य है और शिव वाक्य सदा सर्वदा के लिए सत्य रहेगा।

(पटना, १५ सितम्बर १९७८)

सर्वश्रेष्ठ जादूगर

“य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः।

य एवैकः उद्भवे सम्भवे च य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥”

विश्व के रचयिता एक बहुत बड़े जादूगर हैं। वह अपने जादुई शक्ति से सृष्टि करते हैं और इस जादू से बने संसार का नियन्त्रण भी करते हैं। इस विश्व में कुछ भी ऐसा नहीं है न हो सकता है जो उनके नियन्त्रण में न हो। अर्थात् प्रत्येक सत्ता, प्रत्येक और सभी अस्तित्व उनका आदेश मानते हैं और वे अपना नियन्त्रण अपनी शक्ति की सहायता से करते हैं। शक्ति: सा शिवस्य शक्तिः। शक्ति (प्रकृति) के पास उनकी इच्छानुसार कार्य करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है और वे उस शक्ति की सहायता से सबका नियन्त्रण करते हैं। चूँकि वह सर्वोच्च नियन्त्रक हैं इसीलिए वे ईश्वर हैं।

जब कोई जादूगर किसी वस्तु को बनाता है तो दर्शक सोचते हैं, ‘आह, क्या जादू है—कितना चमत्कार है’ ! किन्तु जादूगर उस रहस्य को जानता है। जादूगर जानता है कि यदि दर्शकों में से कोई जादू का अन्दरूनी रहस्य जानता है अथवा जानने का अवसर पा गया है तब उसे धोखा नहीं होगा, वह चमत्कार नहीं होगा और मात्र जब तक जादू का आकर्षण है तभी तक वे इस जादुई संसार के प्रति आकर्षित रहेंगे। उसके बाद जब जादू का प्रभाव चला जायेगा तब वे कहेंगे, ‘नहीं, नहीं, मैं यह जादू अब देखूँगा नहीं, मैं दर्शक नहीं रहूँगा, जादूगर की गोल में शामिल हो जाऊँगा, मैं अब दर्शकों की गोल में नहीं रहूँगा।’

जादूगर चाहता है कि लोग उसका खेल देखते रहें। किन्तु दर्शक अथवा वे बुद्धिमान दर्शक जो जादूगर की गोल में शामिल हो जाना चाहते हैं वे

क्या करेंगे ? वे जादूगर से प्रेम बढ़ाना प्रारम्भ कर देंगे और उसकी गोल में शामिल हो जायेंगे। उस गोल में शामिल हो जाने के बाद जादू का हर एक और सब रहस्य उन्हें ज्ञात हो जायेगा।

‘य एवेक उद्भवे सम्भवे च ।’ यह सब जादुई अभिप्रकाश, जादुई खेल उनमें ही अपना जन्म पाते हैं। उन्होंने अपने को अनेकों प्रकार के जादुई खेलों के रूप में अभिव्यक्त कर रखा है और यह वही जादूगर हैं जो जादू से बने सभी विषयों का रख-रखाव करते हैं, उनका पालन-पोषण करते हैं और अन्ततः वे सभी जादूगर के अन्तःपुर में वापस चले जाते हैं।

‘य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति’। वह चतुर अध्यात्म साधक जो उनके निकट सम्पर्क में, जादूगर से आत्यन्तिक प्रेम के कारण, आ जाता है वह अमर हो जाता है।

अमरता क्या है ? इस संसार में सभी कुछ का अपकर्ष होता है, सभी कुछ का क्षय होता है किन्तु जो परम सत्य है वह अपरिवर्तित रहता है और उसका रूपान्तरण नहीं होता है। अतः वह मनुष्य, वह साधक, वह बुद्धिमान साधक जो उनके संरक्षण में आ जाता है अमरता प्राप्त करता है। इसीलिए वे ‘मृत्युमृत्यु’ नाम से भी जाने जाते हैं।

‘मृत्युमृत्यु’ के दो अर्थ हैं। पहला यह कि जो उन्हें प्राप्त कर लेते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता, उनकी मृत्यु महामृत्यु (अन्तिम मृत्यु) होगी। दूसरा यह कि वे मृत्यु की भी मृत्यु हैं अर्थात् मृत्यु यदि उनके समीप आवे तो वह स्तम्भित हो जायेगी, मृत्यु को मर जाना पड़ेगा। इसीलिए कहा गया है ‘अमृतास्ते भवन्ति’— जो उन्हें पा जाते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

(पटना, १५ सितम्बर १९७८)

16e
16 Sep

विश्वमाया से मुक्ति

“क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मनावीशते देव एकः ।

तस्याभिध्यानात् योजनात् तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः”॥

इस विश्व में जागतिक और अतिजागतिक किंवा शारीरिक और मानसिक क्षेत्रों में दो प्रकार की सत्तायें हैं—क्षर और अक्षर । क्षर चितिशक्ति का रूपान्तरण है जो प्रकृति की बन्धनी शक्ति के परिणामस्वरूप बनता है । अतः दार्शनिक भाषा में, संस्कृत में, उस प्रकृति को ‘प्रधाना’ कहते हैं, क्योंकि सृष्टि कार्य में उसकी प्रधान भूमिका हो जाती है । ‘प्रधान’ का अर्थ है प्रमुख । इस विश्व में हम जो कुछ भी देखते हैं अथवा जो कुछ भी हमारे प्रभाव क्षेत्र में आता है वह सब ‘क्षर’ है अर्थात् प्रकृति द्वारा निर्मित । चितिशक्ति का वह अंश जो बन्धनी प्रकृति के प्रभाव में नहीं आता है वह अक्षर ही रह जाता है । अर्थात् इसका परिवर्तन नहीं होता है, रूपान्तरण नहीं होता है, इसका क्षय नहीं होता है और इसका ह्रास नहीं होता है ।

‘क्षरः प्रधानं अमृताक्षरं हरः’ वह अक्षर अंश अर्थात् वह अपरिवर्तनशील, हासरहित, अरूपान्तरित तत्त्व अमर है, अमृत है । क्षर मरणशील है । यह मृत्यु क्या है ? मृत्यु है रूपान्तरण की एक प्रक्रिया । अक्षर का अर्थ है रूपान्तरण की प्रक्रिया से प्रभावित नहीं होना, अतः अमर । अमृताक्षरं हरः । इसीलिए वह अक्षर ‘पर’ नाम से भी जाना जाता है । ‘पर’ का अर्थ है सभी परिवर्तनों तथा सभी बदलाव से परे ।

‘क्षरात्मनावीशते देव एकः’ । किन्तु एक तीसरी सत्ता भी है । एक तो है क्षर ब्रह्म अर्थात् रूपान्तरित ब्रह्म, विषयीभूत ब्रह्म और प्रकृति के बन्धनी प्रभाव से सृष्ट यह संसार, दूसरे हैं अक्षर ब्रह्म जिनका एक अन्य नाम है ‘हर’ । ‘हर’ का अर्थ है वह जो दूसरों के प्रभाव से परिवर्तित नहीं होते ।

यह संसार ‘हरि’ और ‘हर’ का दैवी खेल है । यह हरिहरात्मक है । ‘हर’ है वह जिनका रूप परिवर्तन नहीं हो रहा है और ‘हरि’ का अर्थ है ‘हरति पापानि इत्यर्थे हरिः’ अर्थात् जो दूसरों के पाप चुरा लेते हैं । लोग कह सकते हैं, ‘परम पुरुष महान है और वे चोरी करते हैं ?’ क्या बात है ? आवश्यक होने से उन्हें चोरी में प्रवृत्त होना पड़ता है किन्तु बिना किसी कलुष अथवा त्रुटि के । वे आशा करते हैं कि भक्तगण अपने पाप उन्हें दे देंगे और स्वयं मुक्त हो जायेंगे । किन्तु जब वे भक्तों से ऐसा करने को कहते हैं तो भक्त कहते हैं, ‘हे नारायण, हम तुम्हें अपना मन दे सकते हैं, अपना शरीर दे सकते हैं, अपना आत्मा दे सकते हैं और अपना सर्वस्व दे सकते हैं किन्तु हम अपना पाप तुम्हें कैसे दे सकते हैं ?’ भक्त उन्हें अन्तर्गम से प्रेम करते हैं और वे भी उन्हें प्रेम करते हैं । चूँकि भक्त अपना पाप उनके कहने से नहीं देते हैं वे (परमपुरुष) चुरा लेते हैं और इसीलिए वे ‘हरि’ नाम से जाने जाते हैं । किन्तु इस श्लोक में ‘हर’ का ही सन्दर्भ है । कहा गया है ‘अमृताक्षरं हरः ।’ अतः एक क्षर ब्रह्म है । दूसरे अक्षर ब्रह्म किन्तु तीसरे हैं ‘निश्क्षर ब्रह्म ।’

तुम जानते हो कि सृष्टि का बीजमन्त्र ‘अ’, ‘उ’ और ‘म’ अर्थात् ‘ओम्’ (ॐ) है । कारण ब्रह्म की सृष्टि में ‘अ’, ‘उ’ ‘म’ कार्यब्रह्म द्वारा निर्मित किन्तु विषयीभूत ब्रह्म का बीजमन्त्र है ‘क’ अतः ‘क’ हमारा प्रथम व्यञ्जन वर्ण और ‘अ’ हमारा प्रथम स्वरवर्ण है क्योंकि ‘अ’ सृष्टि का बीजमन्त्र है और ‘क’ हमारे व्यञ्जन का प्रथम वर्ण क्योंकि यही विषयीभूत ब्रह्म का बीज मन्त्र है । ‘क’ के तीन अर्थ होते हैं । प्रथम ‘क’ विषयीभूत ब्रह्म का बीजाक्षर, दूसरा अर्थ ‘क’ हमारा प्रथम व्यञ्जन वर्ण और तीसरा अर्थ जलम् अर्थात् जल । संस्कृत में जल ‘क’ नाम से भी कहा जाता है । नीरम्, तोयम्, उदकम्, कम्बलम् और पानीयम् के साथ ‘क’ भी जलका एक पर्यायवाची शब्द है ।

एक बार मैंने कहा था कि जो भूमि ‘क’ से घिरी हुई है उसे ‘कच्छ’ कहते हैं । ‘छ’ का तात्पर्य है घिरा हुआ । मूल धातु छद् मूल धातु ‘छद्’ + ‘ड’ = छ; छद् + खञ्=छाद/छात बनाते हैं ‘छत’ ।

‘छाद्’ का अर्थ है ढँकने वाला । जो भूमि जल से घिरी है, वह है कच्छ । कच्छ भारतवर्ष के पश्चिमी किनारे की एक भूमि है ।

तीसरे हैं ‘निरक्षर ब्रह्म’ । ‘क्षरात्मनावीशते देव एकः’ । यह जो एक अन्य देव है, जो अपना नियन्त्रण क्षर और अक्षर दोनों पर रखते हैं, वे निरक्षर हैं । निरक्षर का सामान्य अर्थ होता है बिना पढ़ा लिखा, किन्तु यहाँ उसका अर्थ है ‘तारक ब्रह्म’, स्पर्श रेखीय बिन्दु जो क्षर और अक्षर दोनों पर नियन्त्रण रखता है । निर्गुण का नियन्त्रण किसी पर नहीं होता । उनका कोई विषय नहीं होता है ।

तुम्हें पूजा करनी है, तुम्हें स्वगत अभिभावन (आत्म सुझावः आटो सज्जेशन) देना है, तुम्हें परगत अभिभावन (बाह्य सुझाव) लेना है, ध्यान करना है, अथवा कोई अन्य आध्यात्मिक साधना करनी है तो किसके निमित्त ? न तो क्षर के लिए, न अक्षर के लिए, बल्कि निरक्षर के लिए । यदि क्षर को तुम अपनी भावना अथवा आराधना का विषय बनाते हो तो तुम अन्ततः क्षर में परिवर्तित हो जाओगे अर्थात् तुम स्थूल वस्तु में बदल जाओगे । अतः क्षर तुम्हारे मन का विषय नहीं हो सकते । अक्षर भी स्वीकार नहीं किये जा सकते क्योंकि अक्षर क्षर से सदा सम्बन्धित हैं और क्षर से सम्बन्धित अनेक कर्तव्यों के करने में व्यस्त रहते हैं । ‘अक्षर’ मुक्त पुरुष हो नहीं सकते । अतः तुम्हारी भावना, ध्यान और पूजा तथा आत्मा के मात्र एक ध्येय होना चाहिए और वह है ‘निरक्षर’ । इसीलिए कहा गया है ‘तस्याभिध्यानात्’ । तुम्हें उनका अभिध्यान करना होगा ।

अभिध्या+अनट् =अभिध्यान । अभिध्यान का अर्थ है इस संसार की क्षण भंगुरता से मन को प्रत्याहार करना और सभी प्रत्याहृत वृत्तियों को निरक्षर की ओर प्रेषित करना । यह निरक्षर का अभिध्यान है । अनेक वृत्तियों को एक बिन्दु पर लाया जाता है और तब उन सभी मिलित वृत्तियों को उन तक ले जाया जाता है । यही अभिध्यान कहा जाता है ।

‘तस्याभिध्यानात् योजनात् तत्त्वभावात्’ । अन्तहीन प्रक्रिया या अभ्यास से तुम परम पुरुष के अति निकट पहुँच जाते हो । ‘योजनात् तत्त्वभावात्’ । ‘तत्’ माने वह अर्थात् निरक्षर ब्रह्म । उनका भाव लेने से, मात्र उनका भाव

लेने से, उसी विषय पर केवल, उसी पारमार्थिक अस्तित्व पर केवल भाव लेना ‘तत्त्वभाव’ है ।

‘भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः’ । तुम्हारा अन्तिम लक्ष्य, तुम्हारा अन्तिम परिणाम, अनेकानेक प्रक्रियाओं का परिणाम, विश्वमाया से मुक्ति पाना ही होना चाहिए ।

माया के अनेकानेक भेद हैं : महामाया, योगमाया, अणुमाया और विश्वमाया । विश्वमाया का तात्पर्य माया के उस प्रभाव से है जो सृष्ट जगत के अन्दर और बाहर काम करती है । माया का वह भाग जो सर्वव्यापी स्वरूप में अन्दर काम करती है उसे विष्णुमाया कहते हैं । यहाँ बन्धन है उस विश्वव्यापी माया या विश्वमाया का । यह वही माया है जो अपने दक्ष हाथों से इस विश्व का, विभिन्न रंगों का और विभिन्न ध्वनियों का निर्माण करती है ।

अतः निरक्षर की अन्तहीन भावना लेने से मनुष्य परम पुरुष में ही मिल जाता है और विश्वमाया से मुक्ति पा लेता है । अन्य कोई विकल्प नहीं है ।

(पटना १७ सितम्बर १९७८)

चितिशक्ति-सर्वोच्च तत्त्व

“एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यं नान्यत् किञ्चित् वर्तते वस्तुसत्यम् ।
तयोर्धेदोऽस्मिन्निन्द्रियोपाधिना वै ज्ञानस्यायं भासते नान्यथैव ॥”

सम्पूर्ण विश्व में मात्र ज्ञातृसत्ता का ही प्रवाह है और यह प्रवाह केवल एकल ही नहीं बल्कि इसका न आदिविन्दु है और न अन्तविन्दु ।

एक :- ‘एक’ क्या है ? जब सभी तन्मात्राये एक निष्कर्ष पर पहुँच जाती हैं और उनका मात्र एक ही निर्णायक विषय निश्चयात्मक स्वभाव का हो जाता है तब हम ‘एक’ का प्रयोग करते हैं । अस्तु, जहाँ कहीं भी हम अपनी तन्मात्राओं को प्रत्याहृत करेंगे मात्र एक ही बिन्दु पर, एक ही वस्तु चीज पर पहुँचेंगे और वह होगी चितिशक्ति । अतः उनके लिए मात्र ‘एक के’ किसी अन्य शब्द का व्यवहार नहीं कर सकते ।

‘नित्यमाद्यन्तशून्य’ । ‘नित्य’ का तात्पर्य उस तत्त्व से है जिसकी वास्तविकता को चुनौती नहीं दिया जा सकता । जिसको भूतकाल में चुनौती नहीं दिया जा सका, वर्तमान में और भविष्य में भी चुनौती नहीं दिया जा सकेगा वही है ‘नित्य’ ।

शक्ति अर्थात् चितिशक्ति का अर्थ Supreme Causal Matrix (आदिमातृका) भी है । यह एकल स्वभाव का तो है ही, ‘नित्य’ आद्यन्तशून्य’ भी है । ‘आदि’ का तात्पर्य है प्रारम्भ बिन्दु और ‘अन्त’ का अन्त बिन्दु । ‘आद्यन्तशून्य’ का अर्थ हुआ जिसका न तो प्रारम्भ बिन्दु है न अन्त बिन्दु ।

वेदों में एक कथा है । एक बार एक महान ज्योतिर्मय सत्ता देवताओं, दानवों और मनुष्यों के समक्ष प्रकट हुई । इस ज्योतिर्मय सत्ता का न आदि था और न अन्त । पहले तो कोई भी उसके समीप जाकर उसके विषय में जानने

का साहस नहीं किया किन्तु धीरे-धीरे कुछ देवताओं ने उसके पास जाकर उसके विषय में जानने का साहस किया । पहले वायु देवता उसके पास गये और पूछे, ‘आप कौन हैं ? सीधे उत्तर देने के बदले उस सत्ता ने पूछा, ‘तुम कौन हो ?’ वायु देवता ने कहा, ‘मैं शक्तिशाली वायु देवता हूँ । मैं उन सभी वस्तुओं को उड़ा देता हूँ जो मेरे रास्ते में आते हैं ।’ उस ज्योतिर्मय सत्ता ने एक घास के पत्ते को उन्हे देते हुए कहा, ‘यह एक घास की पत्ती है । इसे उड़ा दो, यदि उड़ा सको ।’ वायु देवता अनेक प्रयास के बावजूद उसे उड़ा नहीं सके । तब वे लज्जित और अनुशासित होकर वापस चले गये । तब अग्नि वहाँ गये और अपना परिचय देते हुए बोले, ‘मैं अग्नि हूँ । मेरी विशेषता यह है कि मैं किसी भी वस्तु को जला दे सकता हूँ ।’ अग्नि को भी घास का तिनका जला देने को कहा गया किन्तु वे सफल नहीं हुए और वह भी सिर झुका कर वापस चले गये । इसी प्रकार वहाँ जल देवता गये किन्तु उस तिनके को भिगों नहीं सके । तब वहाँ उपस्थित सभी लोगों ने सोचा कि इस प्रकार से काम नहीं चलेगा और उन्होंने अपने में से उस व्यक्ति को चुना जो सबसे अधिक बुद्धिमान था । वह मात्र बुद्धिमान ही नहीं था बल्कि विभिन्न परिस्थितियों में कैसे व्यवहार किया जाय इस कौशल से भी अभिज्ञ था । लोगों ने उसे अपना प्रतिनिधि चुना और कहा कि वह जाकर उस ज्योतिर्मय सत्ता का परिचय प्राप्त करें । यह प्रतिनिधि उनके पास गये और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक पूछे, ‘भगवन, आप कौन हैं ?’ उस ज्योतिर्मय सत्ता ने प्रतिप्रश्न किया, ‘तुम कौन हो ?’ उस प्रतिनिधि ने कहा, ‘मैं आपके पास आपका परिचय जानने आया हूँ । मैं स्वयं यह नहीं जानता कि मैं कौन हूँ ।’ उस ज्योतिर्मय सत्ता ने पूछा, ‘तुम क्या करते हो ?’ इस बार उत्तर था, ‘मैं वह सब करूँगा जो आप कहेंगे ।’ इस उत्तर से ज्योतिर्मय सत्ता बहुत प्रसन्न हुई और बोली, ‘मैं चितिशक्ति हूँ । मैं तुममें और तुम्हारे बाहर भी हूँ । मेरी उपस्थिति से ही तुम सब कुछ कर सकने में सक्षम हो, तुम अनुभव करने में तथा सब कुछ कर सकने में सक्षम हो । तुम मेरे एक छोटे से अंश हो, मैं समुद्र हूँ और तुम उस समुद्र की एक बूँद ।’ इसके बाद उस प्रतिनिधि ने किसी सन्देश की याचना की तो उस ज्योतिर्मय सत्ता ने कहा, ‘मेरा सन्देश है ‘द’ । तुम इसे ही सभी को बता दो ।’

जब वह प्रतिनिधि सन्देश लेकर वापस गये तो सभी लोगों ने उनका स्वागत किया और उन्हें अपना स्थायी नेता और राजा नियुक्त कर दिया। पुरानी संस्कृत में इस नेता को 'इन्द्र' कहा जाता था। इस प्रकार उसी दिन से इन्द्र देवताओं के राजा हो गये।

वह सन्देश 'द' तीनों प्रकार के लोगों द्वारा अपनी विशिष्ट विशेषताओं के कारण तीन तरह से समझा गया। एक वर्ग के लोगों ने कहा, 'द' का अर्थ है 'दमनं कुरु'। अर्थात् अपनी सभी वृत्तियों को नियन्त्रित करो और तब 'दान्त' बन जाओ। दम् + त = दान्त। 'दान्त' का अर्थ है वह व्यक्ति जिसने अपनी सभी वृत्तियों को नियन्त्रित कर लिया है। जिन लोगों ने 'द' का यह अर्थ 'दमनं कुरु' समझा था, वे देवता समझे गये। दूसरे वर्ग के लोगों ने 'द' का अर्थ समझा 'दयां कुरु'— करुणा रखो क्योंकि दया से हृदय में मधुरता उत्पन्न होगी और तुम्हारा हृदय सर्वव्यापक बनेगा। इस वर्ग के लोग जिनके अनुसार 'द' का अर्थ था 'दया करो', 'दयालु बनो', वे जाने गये मनुष्य - मानव। तीसरे वर्ग के लोगों ने कहा, 'नहीं, नहीं, 'द' का अर्थ न तो दमन करना और न दया करना है। 'द' का अर्थ है 'दानं कुरु।' यह वर्ग जाना गया 'दानव', 'दैत्य' या 'असुर'। यह तीन श्रेणियों के लोग हैं।

अस्तु, वह 'सत्ता' एक ही है और उसकी शिक्षा, आदेश या राय एक ही है सभी जीवित प्राणियों के लिए, शरीरी, अशरीरी अथवा दैवी सभी के लिए। मनुष्यों का शरीर बना है पंच महाभूतों द्वारा अर्थात् क्षिति, जल, तेज, मरुत और व्योम द्वारा। दानवों का अस्तित्व बना है मात्र अप, तेजस, मरुत और व्योम तत्वों के द्वारा और देवताओं का बना है मात्र तेजस, मरुत और व्योम तत्वों के द्वारा। इसीलिए उनका रूप द्रष्टव्य नहीं होता। देवताओं को जाना जाता है संस्कृत में देवयोनि और उनका शरीर बना है मात्र तीन तत्वों से।

अब देखें 'एकं'। वे हैं 'एकं' और उनका उपदेश भी एक ही, मात्र एक 'अक्षर', मात्र एक अभिव्यक्ति 'द'।

'दानं कुरु' का दान करने का अर्थ स्थूलतम व्याख्या है। 'दान' के लिए

तुम्हें किसी स्थूल वस्तु की आवश्यकता होगी। अतः यह सबसे स्थूल अर्थ है। बाली एक प्रसिद्ध दानव राजा हो चुके हैं जो दान के लिए प्रसिद्ध हैं।

यह तत्त्व, चितिशक्ति मात्र एक ही सत्ता है इस सम्पूर्ण विश्व में - मात्र एक अस्तित्व। कोई अन्य सत्ता 'सत्यम्' नहीं है। जब सत्ता पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाता है तब उसे 'सत्यम्' कहते हैं। कोई अन्य सत्ता सत्य नहीं है। सभी चलायमान सत्य हैं, चलायमान अस्तित्व हैं, आशुचालित चित्रावली हैं। सभी क्षणभंगुर हैं।

किन्तु तब हम इस संसार में इतनी विविधता क्यों देखते हैं? इतनी विविधतायें, इतने वर्ण, इतनी वस्तुयें जब वह परम सत्य मात्र एक सत्ता है और भूमाचितिशक्ति एक ही है, तब यह विविधतापूर्ण संसार क्यों? तब हम क्यों देखते हैं यह बहुवर्णी संसार (Kaleidoscopic world)?

विविधता उपजती है हमारे उन विविध तन्मात्रों के कारण जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के द्वारा और उनके कारण हमें प्राप्त होते हैं। वे हमें ठीक वर्ण, ठीक गन्ध अथवा ठीक गुणात्मक विशेषतायें नहीं बताती हैं और हम एकमात्र उन्हीं पर निर्भर होते हैं जब यह सभी तन्मात्र, यह सभी विषय लौटकर अणु (द्रष्टा) अर्थात् अणुशक्ति के पास आते हैं तो क्या होता है? यह अणुचेतना (द्रष्टा) भूमाचेतन्य के सन्दर्भ में आती है तब यह अनुभव करती है कि जीव, अणुचेतन्य (द्रष्टा) में तथा सर्वोच्च द्रष्टा (भूमाचेतना) में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक ही तत्त्व के बने हैं, उनमें अस्तित्वगत एकता है, उनका निमित्त कारण एक ही है और सम्पूर्ण विश्व में मात्र एक ही तत्त्व है और वह तत्त्व है चितिशक्ति।

(पटना, १८ सितम्बर १९७८)

जीव शिव कैसे बनता है

“सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥”

यहाँ यह कहा गया है कि विश्व के स्रष्टा अनेक माध्यमों से, अनेक प्रकार से, अपने को अभिव्यक्त करते हैं। यह माध्यम ‘सूक्ष्मातिसूक्ष्म’ है। दार्शनिक संस्कृत में ‘सूक्ष्म’ का अर्थ ऐसी सत्ता या सत्ताओं से होता है जिन्हें ज्ञानेन्द्रियों से, बिना किसी अन्य माध्यम के, देखा जाना न जा सके और अति सूक्ष्म का तात्पर्य ऐसे अस्तित्वों से जिन्हें मन द्वारा भी जाना न जा सके। ‘कलिलस्य मध्ये’ का अर्थ है संरचना अथवा संरचनाओं में। ‘विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपं’ का अर्थ है कि विश्व के स्रष्टा स्वयं को अनेक रूपों में अनेक वर्णों में और अनेक भावों में अभिव्यक्त करते हैं।

‘सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपं ।’

अर्थात् संरचनाओं में, अनेकानेक संरचनाओं में, जो सूक्ष्म हैं और जो अतिसूक्ष्म हैं विश्व के निर्माणकर्ता स्वयं को अनेक रूपों, वर्णों और भावों में अभिव्यक्त करते हैं। यह रूप, यह वर्ण, यह भाव अनुसत्ता के ज्ञानेन्द्रियों और कभी कभी मन के भी अनुभव के परे होता है।

कोई भी मनुष्य शरीर को आँखों की सहायता से देख सकता है। आँखें ज्ञानेन्द्रिय हैं। किन्तु किन्हीं तत्वों के सम्बन्ध में जो चार मूलभूत तत्वों की जैसे— अप, तेजस, मरुत और व्योम की संरचनायें हैं उन्हें ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से देखना या अनुभव करना कठिन होता है। और ज्योतिर्मय शरीरों को जिन्हें संस्कृत में देवयोनियां कहा जाता है, जैसे यक्ष, रक्ष, गन्धर्व, विद्याधर, किन्नर, प्रकृतिलीन और विदेहलीन, उन्हें मन द्वारा भी नहीं देखा जा सकता है किन्तु कुछ समय के लिए जब वे ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र में आ जाते हैं

तो लोग उन्हें बहुत अल्प समय के लिए देख सकते हैं। कुछ ही समय के लिए इन ज्योतिर्मय शरीरों को देखा जा सकता है। वे ‘देवयोनियां’ कहे जाते हैं। इसीलिए कहा गया है कि स्रष्टा अनेकानेक माध्यमों, रूपों, वर्णों, मूलध्वनियों, अभिव्यक्तियों जो देखे सुने जा भी सकते हैं और नहीं भी देखे सुने जा सकते हैं, खेलते हैं।

“विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः”

और उनकी अभिव्यक्तियाँ मात्र इन सूक्ष्म या सूक्ष्मतर माध्यमों से ही नहीं होती हैं बल्कि स्थूलतर रूपों से भी होती हैं और वे विश्व की अभिव्यक्तियों से परे भी हो सकती हैं। वे इस विश्व के क्षेत्र के अन्तर्गत भी हैं और इसके परे भी।

‘ज्ञात्वा देवं’ अर्थात् जब कोई उस परम सत्ता परम पुरुष के सम्पर्क में आ जाता है तो ‘मुच्यते सर्वपाशैः’ अर्थात् मुक्त हो जाता है, सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पा जाता है। और जब कोई सभी सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है तब वह जीव नहीं रह जाता, वह शिव हो जाता है।

“पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तो भवेच्छिवः ॥”

(पटना, १९ सितम्बर १९७८)

सत्य का परमाश्रय

“आनन्दाध्यैव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।

आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसं विशन्ति ।”

प्रत्येक वस्तु—अणु अथवा भूमा जो कुछ भी बनता है या बनाया जाता है—वह सब आनन्दधन सत्ता से ही आता है और ‘आनन्देन जातानि जीवन्ति’ अर्थात् इस अनन्त आनन्द की उपस्थिति के कारण प्रत्येक और सभी सृष्टि अस्तित्व संसार में रहना चाहते हैं । और ‘आनन्दं प्रयन्त्यभिसं विशन्ति’ अर्थात् अन्ततः प्रत्येक और सभी अस्तित्व (यह एक ही कारण है जिससे मनुष्य अधिक से अधिक जीवन चाहते हैं) पुनः उसी आनन्दधन सत्ता में (composure of bliss) अथवा आनन्द की अवस्थिति में विलीन हो जाते हैं । आनन्दधन सत्ता ही इस विश्व में एकमात्र सत्य है ।

सत्य क्या है ? ‘सत्’ अर्थात् अपरिवर्तनीय अस्तित्व जब यह पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाता है, जब अपरिवर्तनीयता की चरमावस्था में पहुँच जाता है तब वह ‘सत्य’ कहा जाता है । अतः मनुष्य को उसी सत्य के पथ पर चलना चाहिए और सत्य को ही अपना एकमात्र लक्ष्य बनाना चाहिए । मात्र यही एक मार्ग है, यही भयमुक्त रास्ता है जिसमें कोई भय नहीं है, डरने को कुछ नहीं है । यदुर्वेद कहता है :—

“सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।

येनाक्रमन्त्यृषयोः यो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥”

अन्ततो गत्वा प्रत्येक और सभी संघर्षों में, युद्धों में तथा कार्यों में सत्य की विजय होती ही है । सत्य सफल होकर रहता है । ‘सत्यमेव जयते नानृतम् ।’ अर्थात् असत्य विजयी नहीं होगा । ‘सत्येन पन्था विततो देवयानः’—तुम्हारी भगवत्ता का पथ सत्य के द्वारा प्रशस्त होता है अर्थात् यह सत्य मार्ग को इस प्रकार प्रशस्त कर देता है कि भगवत्ता की प्राप्ति सम्भव हो

जाती है ।

आप्तवाक्य परम पुरुष का वचन है और प्राप्तवाक्य लौकिक विद्वानों के वचन है जैसे पुस्तक आदि । जिस व्यष्टि की सम्पूर्ण इच्छायें परम पुरुष की सन्निकटता के कारण सन्तुष्ट हो गई हैं उसे ‘आप्तकाम’ कहते हैं । यह ‘आप्तकाम ऋषि’ पूर्व काल में इसी सत्य के मार्ग पर चलते रहे और अन्ततः सत्य के परमाश्रय के सम्पर्क में आ गये होते हैं । ‘यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ।’ अर्थात् वे उस स्थान पर पहुँच गये जो सत्य का अन्तिम आश्रयस्थल है । अतः ऋषियों ने कहा :—

“सत्यं ब्रतं सत्यं परं त्रिसत्यमं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।

सत्यस्य सत्यममृतं सत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वं शरणं प्रपन्नः ॥”

उस सत्यस्वरूप परमपुरुष अथवा आनन्दधन सत्ताकी विशेषतायें क्या हैं ?

“बृहच्च तद्विद्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभति ।

दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥”

‘बृहच्च तद्विद्यमचिन्त्यरूपं’ । वह बहुत बड़े हैं, बहुत बहुत बड़े हैं, बहुत बहुत बड़े हैं, इतने बड़े कि तुम्हारी दृष्टिशक्ति उनके सम्पर्क में नहीं आ सकती । तुम्हारी दृष्टिशक्ति सीमित है । इसका क्षेत्र एक विशेष तरंग दीर्घता से दूसरी विशेष तरंगदीर्घता तक ही सीमित है । किन्तु वह उससे बड़े हैं, तुम्हारी दृष्टिशक्ति से कहीं बहुत अधिक बड़े हैं और वे न केवल तुम्हारी दृष्टिशक्ति से परे हैं बल्कि वे ‘अचिन्त्यरूपम’ हैं अर्थात् वे तुम्हारे अणु सत्ता के स्पन्दन से भी परे हैं । अर्थात् न तो वे तुम्हारे इन्द्रियगम्य हैं और न ही ‘मन अनुभवं’ हैं । ‘उनकी’ दिव्य ज्योति तुम्हारी इन्द्रियों अथवा तुम्हारे मन के द्वारा नापी जा सकती है । ‘सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभति ।’ अर्थात् ‘वे’ न केवल बहुत बहुत बड़े हैं बल्कि बहुत बहुत छोटे भी हैं, बहुत सूक्ष्म हैं, इतने छोटे कि तुम्हारी इन्द्रियाँ उनका अनुभव नहीं कर सकतीं, न देख सकती हैं न छू सकती हैं । यह छोटे हैं किन्तु ज्योति है । मैंने तुम सबको देवयोनि के विषय में कुछ बताया है । छोटे हैं किन्तु ज्योति है ।

‘दूरात्सुदूरे तदिहान्तिकेव’ । ‘दूर’ का अर्थ है लम्बी दूरी और ‘सुदूर’ का

अर्थ है बहुत बहुत लम्बी दूरी । कभी कभी तुम सोच सकते हो कि तुम्हारी आवाज और तुम्हारी अभिव्यक्ति उन्हें सुनाई या दिखाई न पड़ती हो । यदि तुम ऐसा सोचते हो तो तुम्हारे सम्पूर्ण प्रयास, तुम्हारी मूल अभिव्यक्तियाँ (एकाउस्टिक एक्सप्रेसन) अथवा मानसिक प्रयास व्यर्थ हो जायेंगे क्योंकि जब तुम सोचोगे कि वे दूर हैं तो वे दूर नहीं उससे भी दूर होंगे । यदि तुम सोचोगे कि वे निकट नहीं हैं, दूर हैं तो वे दूरतर हैं । यदि तुम सोचो कि वे निकट हैं तो वे निकट हैं, वे तुम्हारी कल्पना से भी अधिक समीप हैं ।

जिन्होंने अन्तर्दृष्टि पा ली है वे अनुभव करेंगे कि परम पुरुष उनके ही 'रच' में हैं । जब वे तुम्हारे अपने 'मैं' भाव में हैं तब उन्हें जानने के लिए उन्हें पाने के लिए इतस्ततः क्यों भटकते हो, ठीक उसी तरह जैसे कोई राजा सम्पूर्ण सम्पत्ति के होते हुए भी द्वार द्वार पर भिक्षाटन करता हो ?

परम पुरुष को पूर्ण उत्साह के साथ, पूर्ण निष्ठा के साथ और प्रेम के साथ स्वयं अपने में ढूँढ़ो । तब वह ज्योतिर्मय सत्ता तुम्हारे हृदय में अपनी पूर्ण ज्योति के साथ प्रगट हो जायेगी ।

(पटना, २० सितम्बर १९७८)

‘शरणं ब्रजामः’

वेदों में कहा गया है और तन्त्रों का भी समर्थन है कि परम पुरुष ही एकमात्र मनन के विषय हैं । तन्त्र में कहा गया है :

“तदेकं जपामस्तदेकं स्मरामस्तदेकं जगत्साक्षिरूपं नमामः ।

तदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्बोधिपोतं शरणं ब्रजामः ॥”

‘तदेकं जपामः ।’ अर्थात् जब कोई जप क्रिया करे तो जपक्रिया का उद्देश्य मात्र परम पुरुष ही हों । जप है क्या ? यह आन्तरिक होता है, बाह्यभ्यन्तरीण होता है अथवा आत्म-सुझाव परक स्वगत अभिभावन (आटोसजेशन) होता है । होता है क्या ? न केवल वृत्तियों की आन्तर्वाहिक गति प्रत्याहृत होकर उस एकल सत्ता की ओर प्रवाहित हो जाती है बल्कि मन की चित्ताणु-संरचना भी चूर्णीकृत होकर चितिसत्ता से मिल जाती है ।

‘तदेकं स्मरामः ।’ स्मृति क्या है ? ‘अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ।’ जब तुम किसी चीज का अपने ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से अनुभव करते हो या विचार करते हो तब क्या होता है ? तुम्हारे मन की चित्ताणु-संरचना उस बाह्य विषय का रूप परिग्रह कर लेती है । जब तुम अपनी आन्तरिक शक्ति द्वारा उसी विषय का पुनः कुछ समय बाद रूप परिग्रह करते हो तब इस पुनः रूप परिग्रह की क्रिया को स्मृति नाम से जाना जाता है । मान लो, दस वर्षों पूर्व तुमने एक विशेष साँढ़ देखा अथवा कोई जानवर देखा और जब तुम उसे पुनः अपने मन में बना रहे हो तब यह प्रक्रिया ‘स्मृति’ नाम से जानी जाएगी ।

‘असम्प्रमोस’ अर्थात् अनुभूत विषयों का पुनः रूप परिग्रह होता क्या है ? अपने अनुकूल वृत्तियों के अनुसार ज्ञात रूप में अथवा अज्ञात रूप में अपनी वृत्तिगत प्यास बुझाने के लिए तुम बहुत सारे बाह्य रूपों का परिग्रह करते

हो । मान लो, तुम रसगुल्ला पसन्द करते हो । तुम अपने मन में रसगुल्ला बना सकते हो, किन्तु साधना के समय जाने अनजाने रसगुल्ला प्रायः तुम्हारे मन में बनता रहता है और तुम्हारी साधना में विघ्न पड़ता है । मान लो तुम मन बना रहे हो कि तुम घूस लोगे । साधना करते समय क्या करते हो—घूस-घूस-घूस-घूस । देखो कि किस प्रकार तुम्हारी वृत्त्यात्मक तरंगें घूस की ओर प्रधावित होती हैं और किस प्रकार उस स्मृति को अस्तव्यस्त कर देती हैं जिसे तुम बनाना चाहते हो । साधना के समय मनः शान्ति के कारण वे अवांछित तत्त्व मन में भीड़ लगा देते हैं ।

‘तदेकं स्मरामः ।’ यहाँ यह कहा गया है कि यदि तुम्हें कोई चीज मन में बनानी ही है तो मात्र परम पुरुष को ही बनाओ, अन्य कोई विषय नहीं ।

‘तदेकं निधानं निरालम्बमीशं ।’ जहाँ कहीं भी अस्तित्व है, वहाँ गति है और उसका एक लक्ष्य भी होगा और अन्तर्विन्दु भी इस विश्व में सब कुछ गतिशील है । तुम भी शारीरिक रूप में मानसिक रूप में और आध्यात्मिक रूप में गतिमान हो । इसीलिए कहा गया है कि जब तुम गतिमान हो ही तो तुम्हारी त्रिधागति के लिए तुम्हारा एक लक्ष्य, एक अन्तर्विन्दु भी होना चाहिए । यहाँ यह कहा गया है कि परम पुरुष ही तुम्हारी पूर्णता के चरम विन्दु हैं, वे ही अन्तर्विन्दु हैं । वे ही परमाश्रय (परम आलम्बन) हैं ।

‘आलम्ब’ का अर्थ होता है ‘भौतिक आश्रय’-मूलाधार । किन्तु मानसिक विषय भी ‘आलम्ब’ होता है । मानसिक विषयों के अर्थ में आलम्ब के लिए एक विशेष संस्कृत शब्द है ‘आभोग’ । कोई भी तत्त्व भौतिक, मानसिक या आध्यात्मिक अपना अस्तित्व बिना मूलाधार के, बिना एक आधार के, या बिना ‘आभोग’ के नहीं रख सकता । किन्तु जहाँ तक परम पुरुष का प्रश्न है वे किसी ‘आलम्ब’ की अपेक्षा नहीं रखते, न ‘आभोग’ की । वे ही इसीलिए लक्ष्य हैं परमाश्रय हैं और उन्हें किसी आधार की आवश्यकता नहीं होती ।

‘भवाम्बोधिपोतं शरणं ब्रजामः ।’ वे बहुत बड़े जहाज के समान हैं जो भव समुद्र में तैर रहा है । ‘भव’ क्या है ? वह है कर्मों की प्रतिक्रिया का बीजांश जो पुनर्जन्म का कारण होता है । यह ‘भव’ एक भयानक समुद्र की तरह है जिसे पार करना बड़ा कठिन है । अतः इसे पार करने के लिए तुम्हें

एक अच्छा, बड़ा और मजबूत जहाज चाहिए । ‘हे परमपुरुष, तुम वही जहाज हो, हमलोग तुम्हारी ओर बढ़ रहे हैं, तुम्हारा आश्रय पाने के लिए, जिससे हमलोग इस भव समुद्र को पार कर सकें ।’ इस प्रार्थना के अतिरिक्त दूसरा कोई रास्ता नहीं है ।

(पटना, २१ सितम्बर १९७८)

शक्ति और ज्ञातृसत्ता

“अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च ॥”

आधारभूत रूप में शक्ति एक ही है किन्तु इसकी अभिव्यक्तियां अनेकों हैं । तथकथित ‘शक्तियां’ एक दूसरे में परिवर्तनीय हैं । विद्युत शक्ति को चुम्बकीय शक्ति में और ध्वनि को प्रकाश में बदला जा सकता है । लौकिक संस्कृत में प्रकाश के लिए ‘अग्नि’ और प्राचीन संस्कृत में ‘इन्द्र’ शब्द का प्रयोग होता है । इस विश्व में परमपुरुष ने अपनी सृष्टि का प्रारम्भ किया और यह सृष्टि बीजध्वनि ‘अ’ से अंकुरित हुई ।

शक्ति भी सृष्टि की गई । यहाँ शक्ति का तात्पर्य प्रकृति (आपरेटिव प्रिंसिपल) से नहीं है । प्रकृति मात्र एक बन्धनकारी सत्ता है और उसकी कार्यप्रणाली ‘स्वभाव’ को, अंग्रेजी में ‘नेचर’ कहा गया । कुछ लोग जिनको पर्याप्त ज्ञान नहीं है, विज्ञान का गहरा ज्ञान नहीं है, कह सकते हैं कि यह सब स्वाभाविक है । किन्तु सत्य यह है कि ‘स्वभाव’ प्रकृति की एक कार्यशैली है, स्वतन्त्र सत्ता नहीं । जब प्रकृति एक शैली विशेष से कार्य करती है तो स्वभाव के अनुसार प्रत्येक स्तर जो प्राणीनता (स्टैमिना) प्राप्त होती है वह शक्ति से ही । शक्ति की बीजध्वनि ‘र’ है । अतः यह बताया है कि शक्ति भी एक प्रकार की सृष्टि ही है—यह भी भूमा चितिसत्ता द्वारा सृष्ट है ।

उस दिन मैंने बताया था कि विश्व में जो भी है वह तीन मूल ध्वनियों से पोषित (सपोटेड) है । सब कुछ अनन्त आनन्द से किंवा आनन्दघन सत्ता से आया है । इस आनन्दघन सत्ता में सात्त्विक, राजसिक और तामसिक शक्तियों का सन्तुलन बना रहता है ।

जब वह सन्तुलन बिगड़ जाता है तो त्रिकोण के एक कोण से प्रवाह बह निकलता है । अतः निश्चित रूप में, जो शक्ति एक कोण से निकलती है वह सात्त्विक शक्ति है अर्थात् आनन्दघन सत्ता के एक स्तर से बाहर आती है । अतः सभी कुछ की सृष्टि प्रारम्भ होती है ‘स’ की ध्वनि से और एक कोण से अपनी यात्रा प्रारम्भ करके इसे आगे जाना होता है और आगे बढ़ने के लिए शक्ति की आवश्यकता पड़ती है । इसे शक्ति द्वारा पोषित होना ही पड़ता है । अतः प्रथमतः सात्त्विक शक्ति ‘स’ से बाहर आने के बाद यह शक्ति से और आगे बढ़ता है अर्थात् ‘र’ नाम की बीजध्वनि वाली शक्ति की सहायता से । और जब यह आगे बढ़ता है तो यह कुछ स्वभावधर्म (वोन्ट), कुछ विशिष्टतायें उपलब्ध कर लेता है । इस स्वभावधर्म अथवा विशिष्टताओं की बीजध्वनि है ‘व’ । अतः ‘स’, ‘र’, ‘व’ अर्थात् ‘सर्व’ । अतः इस विश्व में सभी कुछ संस्कृत में ‘सर्व’ के रूप में जाना जाता है । ‘स-र-व इति सर्व उच्यते’ । इस ‘सर्व’ से हिन्दी का शब्द ‘सब’ और मैथिली का ‘सभ’ आया है जिनका उत्स ‘सर्व’ है ।

इस विश्व की प्रत्येक सत्ता को अग्नि अर्थात् शक्ति अथवा ‘र’ की सहायता आवश्यक है ।

‘अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।’

‘भू’ अर्थात् भुवन और भुवन का अर्थ है वह अभिप्रकाश जो पाञ्चभौतिक तत्त्वों की सहायता से होता है । यह ‘भू’ इस विश्व का संस्कृत में एक स्वीकृत नाम है । भू, भूमि, धरा, धरित्री, गोत्र, कु, पृथिवी, पृथ्वी, मेदिनी, मही, सर्वसहा, बसुमती विश्व के नाम संस्कृत में हैं । विभिन्न अस्तित्वों की रूप संरचना के अनुसार अपने उक्त पात्रानुकूल अपना भी रूप बनाकर शक्ति इस विश्व के प्रत्येक और सभी अस्तित्वों की संरचना को सुसंगठित और संरक्षित रखती है । एक ही शक्ति सिलिंग फैन, बल्ब अथवा अन्य उपकरणों के माध्यम से कार्य करती है किन्तु क्या हम उसे देख पाते हैं ? कोई व्यक्ति किसी शक्ति को देख नहीं सकता और कोई व्यक्ति प्रत्यक्षतः उसके सम्पर्क में भी नहीं आता बल्कि सदा वह शक्ति के संचालन पर ही उसकी उपस्थिति से अवगत होता है । पंखे के संचालन से ही हम यह जानते हैं कि उसके पीछे

शक्ति है। बल्ब से हम प्रकाश पाते हैं किन्तु शक्ति को देख नहीं पाते। शक्ति कभी देखी या समझी (परसीव) नहीं की जाती, बल्कि उसके परिणाम देखे समझे या अनुभव किये जाते हैं। हम शक्ति के परिणाम विभिन्न माध्यमों से देखते हैं किन्तु शक्ति स्वयं सदा अनदेखी रहती है।

“एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च ।”

ठीक उसी प्रकार वही चित्सत्ता, वह द्रष्टा, शक्ति के समान ही रहते हैं। तुम्हारे अन्दर प्राणाः (मूल शक्ति) है इसीलिए तुम बोल सकते हो, तुम चल सकते हो अथवा तुम सोच सकते हो। तुम्हारी भौतिक संरचना से जब कोई अभिप्रकाश नहीं होगा तो दूसरे लोग कहेंगे कि यह आदमी मर गया, चला गया। इसी प्रकार चितिशक्ति (काग्नीटिव फैकल्टी) विश्व में विभिन्न सत्ताओं के माध्यम से क्रियाशील होने पर उन सत्ताओं के विषयी प्रतिरूप (सब्जेक्टिव काउन्टर पार्ट) के रूप में काम करती है और चितिशक्ति के इसी विषयी-अभिप्रकाश (सब्जेक्टिव एक्सप्रेसन) के कारण ही उसके अस्तित्व की धारणा (कानसीव) और इन्द्रिय गोचरता (परसीव) संभव होती है। ईश्वर (गाड) के अस्तित्व की धारणा (कानसेप्शन) हो सकती है किन्तु उन्हें देखा नहीं जा सकता है। हमलोग उनकी अभिप्रकाश (एक्सप्रेसन) देखते हैं। इसी प्रकार हमलोग चितिशक्ति के अभिप्रकाश को देखते और अनुभव करते हैं। आत्मा देखा नहीं जाता, इन्द्रियगोचर नहीं होता, न उसकी व्यष्टिगत या सामूहिक तौर पर अवधारणा की जा सकती है।

चितिशक्ति वर्तमान है, न केवल प्रत्येक और सभी रूपों में ही बल्कि रूपों के (पात्रों के) अतिरिक्त भी। यह न केवल सबमें व्याप्त है बल्कि सबको आच्छादित (आल परवेडिंग बट आल कवरींग-ओत प्रोत) भी किये है। इसीलिए यह विष्णु नाम से जाना जाता है।

(पटना, २२ सितम्बर १९७८)

मन और चितिशक्ति

“जाग्रत स्वप्न सुषुप्त्यादि चैतन्यम् यद् प्रकाशते ।

तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥”

मनुष्य के मन के चार स्तर हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जाग्रत का तात्पर्य है जब चेतन मन सचेत है। तुम सभी जाग्रत अवस्था में हो। स्वप्न जब चेतन मन सचेत नहीं है, किन्तु, अवचेतन मन सचेत है और कुछ देख रहा है, जैसे स्वप्न। सुषुप्ति जब चेतन और अवचेतन दोनों मन गौण हैं। तुरीय चौथा है जहाँ चेतन, अवचेतन और अचेतन मन के तीनों स्तर निष्क्रिय रहते हैं और वह सत्ता चिति तत्त्व के शरणागत रहती है।

जाग्रत क्या है? जीवात्मा क्या है? जीवात्मा परमात्मा की व्यष्टिमानस पटल पर प्रतिच्छाया है। उस स्थान पर वास्तव में परमात्मा ही आत्मा है और जीवात्मा प्रतिबिम्बित आत्मा। इसीलिए प्रायः यह कहा जाता है :

“यथा दर्पणाभाव आभासहानौ मुखं विद्यते कल्पनाहीनमेकम् ।

तथा धीवियोगे निराभासको यः सः नित्योपलब्धिस्वरूपोऽयमात्मा ॥”

मान लो एक मुख है अथवा एक फूल है—एक लाल फूल और अनेक दर्पण हैं। तब वह एक फूल या मुख प्रतिबिम्बित होकर दर्पण के बनावट की शुद्धता और आकृति के अनुसार अनेक फूलों और मुखों के रूप में रहेगा। सभी प्रतिबिम्ब एक समान नहीं रहेंगे। यह दर्पण की आकृति पर निर्भर करेगा। एक मुख अनेक हो जाता है। इसी प्रकार परम पुरुष, चितिशक्ति अथवा यों कहो कि आदि कारण सत्ता (काजल मैट्रिक्स) ही वह एकल सत्ता है जो अनेकों दर्पणों पर प्रतिबिम्बित होता है।

प्रत्येक और सभी सत्ताओं, प्रत्येक और सभी जीवों में मन होता है, कहीं अनुन्नत, कहीं उन्नत और कहीं अति उन्नत। किन्तु, मन वहाँ है अवश्य

जहाँ जीवन है, जहाँ प्रतिबिम्ब भी है। अतः जहाँ कहीं मन है, वहाँ जीवात्मा भी है। यह प्रतिबिम्बित आत्मा जीवात्मा है और मूल आत्मा, मूल वस्तु जिसकी छाया पड़ती है, वह 'प्रत्यगात्मा' है। प्रतिबिम्बित भाग जीवात्मा कहे जाते हैं और मूल सत्ता जिसकी छाया पड़ती है वह है 'प्रत्यगात्मा'। प्रत्यगात्मा परमात्मा हैं। जीवात्मा परमात्मा नहीं हैं, वे केवल प्रतिबिम्बित हैं।

'मुखम् विद्यते कल्पनाहीनमेकम् ।' अब यदि दर्पणों को हटा लिया जाय तो मूल मुख जैसा है वैसा ही रहेगा, उसकी कोई छाया नहीं रहेगी। इसी प्रकार जब सभी मन हटा लिये जाते हैं तो वह सर्वोच्च प्रत्यगात्मा मात्र एकल सत्ता के रूप में वह जाता है और तब कोई जीवात्मा भी नहीं रहते। 'तथा धीवियोगे निराभासको यः' अर्थात् वह बिना छाया के रह जाता है। 'सः नित्योपलब्धिः स्वरूपोऽयमात्मा' अर्थात् वही साधना के लक्ष्य है, वही आराधना के लक्ष्य है, वही सभी कुछ के लक्ष्य है और वही सर्वोच्च चितिशक्ति हैं।

अभी मैंने तुम लोगों को बताया कि मन की चार अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। तुरीय स्तर में क्या होता है? चेतन मन पूर्ण एकाग्रता किंवा मानसिक कुशाग्रीभूत क्रिया के कारण निलम्बित हो जाता है। अर्थात् जाग्रत मन कुशाग्र रूप में अवचेतन में, फिर अवचेतन कुशाग्र होकर अचेतन में मिल जाता है। वह अचेतन मन बिना स्नायु कोषों या स्नायु तन्तुओं की सहायता के भूमा चेतना के साथ, चिति सत्ता के साथ संयुक्त रहता है। ध्यान के माध्यम से वह चेतना सत्ता भूमा चेतना में मिल जाती है। वहाँ तब मन नहीं रहता, मन की कोई क्रिया नहीं रहती। अर्थात् मन के तीनों स्तर चितिशक्ति में निलम्बित रह जाते हैं। वही अवस्था 'तुरीय' अवस्था, 'केवल' कही जाती है। 'केवल' का तात्पर्य 'एक' से है अर्थात् केवल एक ही सत्ता रह जाती है और वह है परमात्मा। इसीलिए इसे कहते हैं केवला सिद्धि।

'जाग्रत स्वप्न सुषुप्त्यादि चैतन्यम् यद् प्रकाशते ।' यहाँ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति मन के अभिव्यक्त रूप हैं और 'तुरीय' मन की अन्तिम प्रत्याहृत अवस्था। मन के यह चारों स्तर आते कहाँ से हैं? वे आते हैं भूमाचेतना

सत्ता से, सर्वोच्च सत्ता से, क्योंकि वे सर्वोच्च सत्ता के प्रतिबिम्ब हैं। 'चैतन्यम् यद् प्रकाशते।' वह अतिमानस सत्ता, वह सर्वोच्च द्रष्टा, ही मन की तीनों अभिव्यक्तिओं के कारण सत्ता है।

'तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ।' वह सर्वोच्च चेतना सत्ता जिनके प्रतिबिम्ब मन की तीनों अवस्थाएँ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति हैं वे शुद्ध 'मैं' हैं, तुम्हारे वास्तविक 'मैं'। जो मन इन तीनों अवस्थाओं से जुड़ा रहता है अथवा प्रतिबिम्बित आत्मा तुम्हारा वास्तविक 'मैं' नहीं है। तुम्हारा वास्तविक 'मैं' वही सर्वोच्च सत्ता है जिनके प्रतिबिम्ब यह आत्माएँ हैं। वही तुम्हारे वास्तविक मैं हैं। जब तक तुम शरीरों से सम्बन्धित सुख-दुःख से निकट रूप में सम्बन्धित रहोगे तब तक उस सर्वोच्च 'मैं' का आनन्द नहीं उपलब्ध कर सकोगे। जब तुम इन छोटे-छोटे 'मैं पनों' के सुख-दुःख से अपने को असम्बद्ध कर लोगे तब तुम्हारी अध्यात्म साधना की यह अन्तिम स्थिति होगी। यह सर्वोच्च अवस्थिति होगी। यही समाधि है- निर्विकल्प समाधि।

'तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ।' जब अध्यात्म साधक यह अनुभव करेगा कि वह सर्वोच्च सत्ता ही उसका वास्तविक 'मैं' है तब वह संसार के सभी बन्धनों से अपने को मुक्त पावेगा।

(पटना, २३ सितम्बर १९७८)

प्रत्याहार योग और परमागति

ठीक प्राणायाम की भांति प्रत्याहार योग भी अपने में पूर्ण नहीं है। प्राणायाम शरीर विशेष की प्राणशक्ति को नियन्त्रित करने का अभ्यास है। 'प्राणान् यमयत्येष प्राणायामः।' प्राणायाम एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक अध्यात्म साधक प्राणशक्ति को नियन्त्रित करता है। किन्तु, प्राणायाम को सर्वदा विन्दुध्यान अर्थात् विन्दु विशेष पर ध्यान से सम्बद्ध करना चाहिए। यदि प्राणायाम विन्दुध्यान से सम्बन्ध नहीं किया गया तो यह आत्मनियन्त्रण को प्रभावित करेगा। प्राणायाम मन को चञ्चल बना देगा।

इसी प्रकार प्रत्याहार योग, अंग्रेजी में जिसका उचित प्रतिशब्द (withdrawal) है, सदैव धारणा से सम्बद्ध किया जाना चाहिए। ध्यान और धारणा में अन्तर यह है कि ध्यान स्थिर होता है अर्थात् ध्यान का विषय स्थिर होता है। धारणा में मन विषय के साथ घूमता रहता है अर्थात् धारणा के पीछे एक गतिशील शक्ति रहती है और ध्यान, यद्यपि सात्विक होता है, अपने में गतिशील नहीं होता। अध्यात्म साधना के क्षेत्र में, रण क्षेत्र में, प्रत्याहार का बड़ा महत्त्व है क्योंकि साधना के प्रारम्भिक स्तर में साधक को अपने मन को बहिर्जगत की भौतिकता से हटाकर अन्तर्मुखी करना (प्रत्याहृत करना) आवश्यक होता है।

अस्तु प्रत्याहार योग में अपनी सभी वृत्तियों को बहिर्जगत से प्रत्याहृत करके तुम्हें क्या करना है? इन मानसिक वृत्तियों को किधर ले जाना है? यदि मानसिक वृत्तियाँ प्रत्याहृत हो गई किन्तु उन्हें किसी विन्दु की ओर नहीं ले जाया गया तो क्या होगा? वे प्रत्याहृत वृत्तियाँ तुम्हारे मन के अवचेतन और अचेतन स्तरों में क्षोभ पैदा कर देंगी, तुम्हारे मन को विक्षुब्ध कर देंगी।

यह खतरनाक होता है। पूर्वकाल में कभी कभी ऐसा हुआ है और भविष्य में भी ऐसा हो सकता है यदि एक अध्यात्म साधक किसी सशक्त गुरु के मार्ग दर्शन के बिना मात्र पुस्तक पढ़ने के आधार पर ऐसा करने लगता है। अतः जब कभी भी तुम अपनी मानसिक वृत्तियों को विभिन्न विषयों से प्रत्याहृत कर रहे हो तो तुम्हें उन एकत्रित मानसिक वृत्तियों को अपने मानसिक परिक्षेत्र में किसी चलमान विषय की ओर धकेल देना होगा।

और वह चलमान विषय क्या है? वह चलमान विषय है तुम्हारा चित्त, तुम्हारा विषयीभूत मैपन। चित्त चलमान रहता है। अतः इस प्रत्याहृत मन को चित्त की ही ओर ले जाना होगा, प्राणायाम किसी बाह्य विषय की ओर नहीं। यदि वे बाह्य विषयों की ओर जाने से रोक दी जायेंगी तो वे अन्तस्थ चित्त की ओर चलना शुरू कर देंगी। यही तत्त्व की बात है। यदि उन्हें प्रत्याहृत किया गया किन्तु चित्त की ओर नहीं ले जाया गया तो एक संकटपूर्ण प्रतिक्रिया होगी। मुझे विश्वास है कि तुमने यह बात अब समझ लिया होगा। इसलिए कहा गया है, 'यच्छेत् वाङ् मनसि प्राज्ञः।' बुद्धिमान अध्यात्म साधक क्या करेंगे? उन्हें अपनी मानसिक वृत्तियों को चित्त की ओर ले जाना पड़ेगा। यहाँ 'वाङ्' शब्द मानसिक वृत्तियों की बहिर्गामी गति का अर्थ रखता है। मनसि प्राज्ञः। अर्थात् उन प्रत्याहृत वृत्तियों को चित्त की ओर चला देना होगा। प्रज्ञावान मनसि यच्छेत्। तद् यच्छेत् ज्ञान आत्मनि। और चित्त उनका अपचय करके चलता जाता है। यह मन के अन्दर ही चलता है, किसी बाह्य विषय की ओर नहीं, बाहरी हाथी की ओर नहीं, बल्कि अन्तर्मुख हाथी की ही ओर। तद् यच्छेत् ज्ञानमात्मनि। चित्त को एकत्रित वृत्तियों के साथ अहंतत्त्व की ओर, 'कर्ता मैं', 'स्वामी मैं', 'मैं काम करता हूँ।' भाव की ओर ले चलना होगा।

यहाँ 'कर्ता मैं' यद्यपि चलमान नहीं है फिर भी चलने की पूरी क्षमता रखता है। यह चल सकता है। यह अंशतः "कृत मैं" में अपने को रूपान्तरित कर सकता है। अतः यह क्षमतावान है। अतः उस चित्त को अर्थात् 'कृत मैं' को

पुनः 'कर्ता मैं' अहंतत्त्व' की ओर चलाना होगा, 'मैं हूँ' भाव में नहीं, बल्कि वह 'मैं' जो स्थित है कुछ करने के योग्य है। यह अहंतत्त्व है।

'ज्ञानात्मनि महति नियच्छेत्।' यह ज्ञानात्मा अथवा यह अहं भी क्षमता रखता है, इसमें रजोगुण तत्त्व अधिकतर प्रमुखता रखता है। यह कर्ता अथवा रजोगुण भी बन्धनी शक्ति रखता है। अतः इस 'ज्ञानात्मा' को भी, इस अहंतत्त्व को भी प्रत्याहृत करना होगा महत्तत्त्व में। 'ज्ञानात्मनि महति नियच्छेत्' अर्थात् महत्तत्त्व के ही अन्दर। और वह महत् तत्त्व है 'मैं हूँ' भाव। अब इस शुद्ध मैं भाव में चलमानता प्रायः नहीं ही है, क्योंकि, यह सात्विकगुण की निर्मिति है। किन्तु तुम जानते हो कि यद्यपि सात्विक गुण कोई विशिष्ट आकृति नहीं बनाता, कोई सीमा नहीं निर्धारित करता फिर भी यह एक प्रकार का बन्धन अवश्य है। चूँकि वहाँ एक बन्धन है अतः वहाँ भी एक संघर्ष अन्दर और बाहर दोनों है। तुम कुछ कर रहे हो, क्या तब वहाँ कोई संघर्ष, कोई गति नहीं है? यद्यपि वहाँ आकृति नहीं है फिर भी एक संघर्ष है, एक गति है।

अतः 'ज्ञानात्मनि महति' में, महत्तत्त्व में यह प्रायः मुक्त अवस्था है तब भी कुछ बन्धन है। मान लो एक अच्छे व्यष्टि कठोरतापूर्ण ढंग से एक अनैतिक व्यष्टि को उसे अपने को अपमानित करने के कारण डाँट फटकार कर रहे हैं तो क्या यह अनुचित है? नहीं, यह अनुचित नहीं है। यह सात्विक क्रोध कहा जाता है। क्रोध तमोगुणी है किन्तु कभी कभी यह सात्विक हो सकता है। उस प्रकार का क्रोध संस्कृत में 'सात्विक क्रोध' कहा जाता है।

'तद् यच्छेत् शान्तात्मनि।' अतः इस शुद्ध मैं भाव, मैं हूँ भाव को भी, जहाँ तुम्हारी सम्पूर्ण मानसिक वृत्तियाँ चित के साथ और चित अहंतत्त्व के साथ और अहंतत्त्व महत् तत्त्व के साथ मिलकर एक शक्तिशाली गतिमान इकाई बना लेते हैं उसे चित सत्ता में मिला देना है। वह चित सत्ता सभी बन्धनों से मुक्त है, वही परमागति है, वही मनुष्य के अस्तित्व का चरम लक्ष्य है।

(पटना, २४ सितम्बर १९७८)

राम और नारायण का तात्पर्य

एक कहानी है कि किसी ने हनुमान से कहा, 'हनुमान, तुम एक भक्त हो और जानते हो कि मूलतः नारायण और राम में कोई अन्तर नहीं है। तब तुम सर्वदा राम का ही नाम लेते हो, कभी भी नारायण का नाम नहीं लेते हो जबकि दोनों मूलतः एक ही हैं।'।

नारायण और राम दोनों वास्तव में एक ही हैं, मात्र नामों का अन्तर है। 'नारायण' संस्कृत का शब्द है। यह एक संयुक्त शब्द है नार + अयन। संस्कृत में 'नार' शब्द के तीन अर्थ हैं। एक अर्थ है 'नीर' (जल), दूसरा अर्थ है 'परमा प्रकृति' और तीसरा अर्थ है 'भक्ति'। नार + द = नारद, भक्ति बाँटनेवाले। 'नार' का अर्थ जल और परमा प्रकृति अर्थात् भूमा प्रकृति और 'अयन' का अर्थ 'आश्रय'। 'शिवायन' अर्थात् शिव का आश्रय, रामायण अर्थात् राम का आश्रय—पुस्तक जिसमें राम को आश्रय दिया गया है (राम का घर) रामायण। 'नारायण' अर्थात् 'नार' किंवा प्रकृति के आश्रय, परमा प्रकृति के आश्रय। 'नार' का आश्रय कौन है? नार अर्थात् परमाप्रकृति के आश्रय हैं परम पुरुष। अतः 'नारायण' का अर्थ हुआ परम पुरुष, भूमा चैतन्य, चित्सत्ता।

और राम का अर्थ क्या है? एक अर्थ है 'रमन्ते योगिनः यस्मिन्।' अर्थात् 'राम' ही मात्र एक ऐसे विषय हैं जो योगियों के मानसाध्यात्मिक आभोग हैं, आध्यात्मिक मानसिक आभोग हैं, मानसाध्यात्मिक भोजन है, मानसाध्यात्मिक आनन्द और प्रसन्नता के स्रोत हैं। योगियों की मानसाध्यात्मिक प्रसन्नता का स्रोत कौन है? परम पुरुष, चित्सत्ता। अतः राम का अर्थ नारायण भी होता है। राम का दूसरा अर्थ है, 'रति महीधरः'

रामः । 'राति' का प्रथम अक्षर 'र' है । और 'महीधर' का प्रथम अक्षर 'म', राम । 'राति महीधरः रामः', सम्पूर्ण विश्व की सर्वश्रेष्ठ ज्योतिष सत्ता जो दूसरों को ज्योतिष करती है । वे सर्वश्रेष्ठ ज्योतिष सत्ता हैं जिनसे सभी ज्योतिष सत्ताये ज्योति प्राप्त करती हैं ।

चन्द्रमा पृथ्वी से ज्योति प्राप्त करती है, पृथ्वी सूर्य से ज्योति प्राप्त करती है और सूर्य परम पुरुष से ज्योति प्राप्त करते हैं । वे ही वह सर्वोच्च सत्ता हैं जो दूसरों को प्रकाशित करते हैं । वह सर्वोच्च प्रकाशमान सत्ता कौन है ?

“न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥”

परम पुरुष ही सर्वोच्च ज्योतिष सत्ता है । 'राति महीधरः' का तात्पर्य है मात्र परम पुरुष, कोई अलग सत्ता नहीं, कोई अन्य सत्ता नहीं ।

'राम' का तीसरा अर्थ है, 'रावणस्य मरणं रामः' । 'रावण' शब्द का प्रथम अक्षर है 'रा' और 'मरण' का प्रथम अक्षर है 'म' । रा + म = राम अर्थात् वह सत्ता जिसके चाप से रावण मर जाता है । 'रावण' क्या है ? रावण का तात्पर्य है दुष्ट मानसिकता, भ्रष्ट मानसिकता जो दस दिशाओं में विचरण करता है अर्थात् पूरव, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः, ईशान, नैऋत् अग्नि और वायु दसों ओर । सभी दुष्ट शक्तियाँ, सभी भ्रष्ट शक्तियाँ, जो दसों दिशाओं में प्रचलित होती हैं वही 'रावण' हैं । रौ + अन = रावण, जो मन को नरक की ओर ले जाता है ।

अस्तु, 'रावणस्य मरणं', रावण की मृत्यु कहाँ होती है, कब होती है ? जब कोई राम की शरण में जाता है तो रावण मर जाता है । अतः 'रावणस्य मरणं राम' । जो परम पुरुष, राम, चित् सत्ता की शरण में चला जाता है वह रावण रूपी राक्षस का नाश कर सकता है । 'रावणस्य मरणं' का तात्पर्य सर्वोच्च चित्सत्ता । अतः 'राम' और 'नारायण' में कोई अन्तर नहीं है ।

अतः हनुमान से प्रश्न किया गया, 'तब हनुमान तुम सदा 'राम का नाम लेते हो, नारायण का नाम क्यों नहीं ? अब ध्यान दो कि हनुमान का क्या

उत्तर था :-

“श्रीनाथे जानकीनाथे चाभेदे परमात्मनि,

तथापि मम सर्वस्वः रामः कमललोचनः ॥”

अर्थात्, तुम्हें अधिकाधिक सच्चाई के साथ अपनी सम्पूर्ण मानसिक वृत्तियों को समाहित करते हुए विन्दुभूत रूप में अपने लक्ष्य परम पुरुष की ओर चलना चाहिए । अपितु, सभी मानसिक वृत्तियों को सूई की नोक (सूच्यग्र) के समान एकाग्र करते हुए अपने 'मैं' भाव को मात्र उस एक तत्त्व की ओर, बिना किसी अन्य रूप, नाम, वर्ण अथवा विषय पर ध्यान दिये तुम्हें परिचालित करना चाहिए । इसीलिए हनुमान कहते हैं, 'श्रीनाथे जानकी नाथे ।' 'श्री' शब्द का योगारूढार्थ है 'लक्ष्मीदेवी', समृद्धि की देवी और इसका भावारूढार्थ है वह सत्ता जो रजोगुणी शक्ति की अधिष्ठान है, जो शक्ति से पूर्ण है ।

संस्कृत में प्रत्येक शब्द के दो प्रकार से अर्थ किये जाते हैं, एक— भावारूढार्थ, व्युत्पत्तिगत अर्थ, दूसरा 'योगारूढार्थ', सामान्य प्रयोगगत अर्थ । उदाहरणार्थ 'पञ्चानन' । पञ्चानन का अर्थ है 'पञ्चमुख सत्ता' । यह 'भावारूढार्थ' अर्थ पदवाची है किन्तु लोग इसका प्रयोग 'शिव' के लिए करते हैं । यह योगारूढार्थ है । तुमलोगों ने समझ लिया ? 'अनिल' शब्द लो । 'निल' का अर्थ 'नीला' होता है और 'निल' का अर्थ है 'स्थिर' । तथा 'अनिल' का अर्थ 'अस्थिर' अर्थात् चलमान होता है । अनिल का 'योगारूढार्थ' होगा 'वायु', क्योंकि वायु स्थिर नहीं रहती, अतः 'वायु' है 'अनिल' । भावारूढार्थ होगा 'जो स्थिर नहीं है ।'

'श्री' शब्द में तीन अक्षर हैं—'श', 'र' और 'ई' । 'श' रजोगुण की बीजध्वनि है, 'र' शक्ति की बीजध्वनि है और 'स्त्रियाम्' 'ई' स्त्रीलिंगवाचक अक्षर है । वह सत्ता जिसमें रजोगुणी तत्त्व है, जो शक्ति से परिपूर्ण है स्त्रीलिंगवाची है वही है 'श्री' । प्रत्येक व्यक्ति रजोगुणी तत्त्व और शक्ति से भरा पूरा रहना चाहता है । प्रत्येक व्यक्ति रजोगुणी तत्त्व और शक्ति चाहता

है। इसलिए प्राच्यदेशों में प्रत्येक व्यक्ति के नाम के पहले 'श्री' लगाने की पुरानी परम्परा है।

श्रीनाथ, श्री के मालिक 'नारायण' है और जानकी अर्थात् सीता के मालिक (पति) हैं राम। सीता में 'सी' का अर्थ है खेतों को हल अथवा ट्रैक्टर से संस्कारित करना (कल्चर), उर्वर बनाना (फर्टिलाइज) और उसका 'विशेषण' वाची शब्द है 'सीता' अर्थात् पूर्ण संस्कारित अथवा कहना उचित होगा चरम सीमा तक कर्मतत्पर संस्कार (संस्कृति)। यह संस्कार (संस्कृति) आता कहाँ से है? कौन इस संस्कार (संस्कृति) का मालिक है? इस संस्कार (संस्कृति) का मालिक कौन है? इस संस्कार (संस्कृति) का कौन प्रेरणास्त्रोत अथवा सहायक है? परम पुरुष। श्रीनाथ अथवा जानकीनाथ का तात्पर्य है उन्हीं परम पुरुष से। अतएव श्रीनाथ और जानकीनाथ में कोई अन्तर नहीं है।

हनुमान कहते हैं, 'मैं' इसे जानता हूँ कि आध्यात्मिकता, अध्यात्मावाद और आध्यात्मिक साधना विज्ञान की भी दृष्टि से श्रीनाथ और जानकीनाथ में कोई अन्तर नहीं है। 'तथापि मम सर्वस्वः रामः कमललोचनः।'।

अस्तु, मन की सम्पूर्ण वृत्तियों को एक ही तत्त्व की ओर परिचालित करो, एक नाम का उपयोग करो, मात्र अपने इष्ट मन्त्र का उपयोग करो और किसी अन्य मन्त्र का उपयोग मत करो।

हनुमान इसीलिए कहते हैं, 'मैं' मात्र राम का नाम जपता हूँ। कभी भी नारायण का नाम नहीं जपता। मैं नहीं जानता कि और नारायण हैं कौन।'। प्रत्येक साधक को जानना चाहिए कि सम्पूर्ण विश्व में मात्र एक ही मन्त्र है और वह है उसका इष्ट मन्त्र। वह कोई और मन्त्र जानता ही नहीं है।

(पटना, २५ सितम्बर १९७८)

कृष्णः विश्व के प्राण केन्द्र

विश्व के प्राणकेन्द्र भगवान् कृष्ण ने कहा था :

“ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥”

'कृष्ण' कौन हैं? 'कृष्ण' क्या है? 'कृष्ण' शब्द के अनेक अर्थ हैं। 'कृष्' धातु का एक अर्थ है 'खेत जोतना', दूसरा अर्थ है 'आकर्षित करना'। वे जो खींच लेते हैं। वे जो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित करते हैं, जो सम्पूर्ण संसार के प्राणकेन्द्र हैं, वे ही हैं 'कृष्ण'। 'कृष्ण' का अर्थ है विश्व का प्राणकेन्द्र। कृष्ण का तीसरा अर्थ है 'भूवाचक', वह तत्त्व जो सबके 'मैंपन' में रहता है। मैं हूँ, क्योंकि कृष्ण है। मेरा अस्तित्व है, क्योंकि कृष्ण का अस्तित्व है। अर्थात् यदि कृष्ण नहीं हों तो मेरा अस्तित्व भी नहीं होगा। मेरा अस्तित्व पूर्णतः कृष्ण पर ही निर्भर करता है।

तुम जानते हो कि प्रत्येक और सभी सत्ताओं का अपना एक बीजमन्त्र होता है अर्थात् प्रत्येक और सभी सत्ता का अपना एक स्पन्दनविशेष होता है, यह स्पन्दन (एकाउस्टिक रूट) संस्कृत में 'बीजमन्त्र' कहा जाता है। कृष्ण का बीजमन्त्र क+ल+अनुस्वार, 'कलं' क्यों कृष्ण का बीजमन्त्र है? 'क' विश्व का बीजमन्त्र है। परम पुरुष इस विश्व का निर्माण अपने शरीर से करते हैं, इसीलिए मैं कहता हूँ कि प्रत्येक और सभी अस्तित्व ईश्वरीय सत्ता हैं। प्रत्येक और सभी लड़के, प्रत्येक और सभी लड़कियाँ, प्रत्येक और सभी जीव ईश्वर के अवतार हैं। इसलिए किसी की न तो उपेक्षा की जा सकती है, न उससे घृणा। तुम सभी परम पुरुष की सन्तान हो।

जब परम पुरुष कुछ बनाते हैं उस अवस्था में वे 'कारण ब्रह्म' है। वे ही

कारण सत्ता है और यह सृष्ट जगत् जिसे वे ही बनाते हैं कार्यब्रह्म है, क्योंकि, यह परिणाम है। कारण ब्रह्म के लिए 'एकाउस्टिक रूट' अथवा बीजमन्त्र है 'ओम्' और कार्यब्रह्म, इस सृष्ट जगत् के लिए बीजमन्त्र 'क' है।

इसीलिए हमारी वर्णमाला के व्यञ्जनों का प्रथम अक्षर है 'क'। संस्कृत वर्णमाला के क्रम में व्यञ्जनो का 'क' प्रथम अक्षर है इसीलिए कि यह कार्य ब्रह्म, परिणाम ब्रह्म और सम्पूर्ण सृष्टि का बीजमन्त्र है। संस्कृत में 'क' के अनेकानेक अर्थ हैं। प्रथमतः यह व्यञ्जनों का प्रथम अक्षर है, 'क' का दूसरे अर्थ है। 'जल'—जलं, नीरं, तोयं, उदकं, पानीयं, कम्बलं, क। उस दिन मैंने तुम्हें बताया था कि भूमि जो पानी से ढंकी होती है, वह है 'कच्छ' (क+छद्+ड)। कच्छ भारतवर्ष का एक भाग है जो पानी से घिरा हुआ है। 'क' का तीसरा अर्थ है परिणाम ब्रह्म, कार्यब्रह्म और विषयभूत ब्रह्म। कृष्ण का बीजमन्त्र है 'क्लं'। पहला अक्षर 'क' है क्योंकि वे इस अभिव्यक्त विश्व को आकर्षित करते हैं और वे इस अभिव्यक्त विश्व से प्रेम करते हैं। इसीसे उनके बीज मन्त्र का प्रथम अक्षर 'क' है। वे रहते कहाँ हैं? क्या वे पृथ्वी पर रहते हैं? जल में रहते हैं अथवा ज्योति में रहते हैं? नहीं वे सभी जीवों के साथ रहते हैं, वे भूतत्त्व पर, क्षिति तत्त्व पर रहते हैं। क्षिति तत्त्व का बीजमन्त्र है 'ल'। 'क' को नियन्त्रित करना और 'ल' अर्थात् भू-तत्त्व पर अर्थात् क्षिति तत्त्व पर स्थित होना 'क्लं' यानी क+ल+अनुस्वार। कृष्ण इस विश्व के अधिपति हैं।

कृष्ण कहते हैं, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'—जो कुछ भी हम स्पर्श करते हैं, जो भी हम इस विश्व में देखते हैं वह सब कुछ कृष्ण का ही है। तुम अपनी इच्छाओं और वृत्तियों के अनुसार उनसे जो भी चाहते हो तुम पाओगे। तुम जो भी मांगते हो उसकी आपूर्ति वे ही करते हैं। जो जिस किसी भी इच्छा से मेरी पूजा करता है, मैं उसको तदनु रूप वस्तु प्रदान करता हूँ। यदि तुम उनसे धन मांगते हो तो तुम धन पाओगे किन्तु उनको नहीं पाओगे क्योंकि तुम धन मांगते हो—उनको नहीं। तुम उनसे यदि नाम और

यश माँगेगे तो वह भी मिलेगा किन्तु वे नहीं मिलेंगे, क्योंकि तुम उनको नहीं माँगते हो। तुम उनके द्वारा कुछ मांगते हो। यदि तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे शत्रुओं को नष्ट कर दें तो यदि तुम धर्म के पथ पर हो, अर्थात् तुम्हारी माँग उचित है तो वे तुम्हारे शत्रुओं का नाश कर देंगे किन्तु तुम उन्हें नहीं पाओगे, क्योंकि तुम उन्हें नहीं माँगते हो। तुम यदि उनसे मुक्ति और मोक्ष मांगते हो और यदि तुम योग्य पात्र हो तो तुम उनसे प्राप्त कर लोगे किन्तु उनको नहीं पा सकोगे, क्योंकि तुमने उन्हें नहीं माँगा।

अतः एक बुद्धिमान साधक कहेगा, 'मैं तुम्हें चाहता हूँ, मैं और किसी को नहीं चाहता हूँ और मैं तुम्हें क्यों चाहता हूँ? इसलिए नहीं कि तुम्हारी उपस्थिति मुझे सुख देगी, बल्कि इसलिए कि तुम्हारी उपस्थिति मुझे तुम्हारी सेवा का अवसर देगी; न कि स्वयं मुझे सुखी होने के लिए।' एक बुद्धिमान साधक कहेगा, 'मैं तुमसे कुछ नहीं चाहता, मैं तुम्हें चाहता हूँ।'

एक कहानी है। एकबार राम-लक्ष्मण महर्षि विश्वामित्र के साथ मिथिला जाने के लिए गंगा पार कर रहे थे। गंगा के दूसरे तट पर पहुँचने के बाद नाविक ने देखा कि उसकी काठ की नाव सोने की नाव बन गई है। नाविक ने सोचा, 'निःसन्देह यह छोटा लड़का राम कोई साधारण बालक नहीं है। उनके स्पर्श से ही यह काठ की नाव सोने की नाव बन गई है।' नाविक की पत्नी घर का सारा काठ का सामान वहाँ उठा लाई। उसने राम से उन सबका स्पर्श कराया और वे सब की सब सोने के बन गए। तब नाविक ने कहा, 'मेरी पत्नी, तुम एक मूर्ख महिला हो। तुम यह नहीं जानती हो कि क्या करना चाहिए। तुम किञ्चित भी व्यवहारिक नहीं हो। तुम्हें यह जानना चाहिए कि यह गुण उनके श्रीचरणों का है। यदि तुम बुद्धिमती होती तो तुम श्रीचरणों को ही अपने घर ले जाती और तब सारा घर ही स्वर्णमय हो जाता।' यही रहस्य की बात है। अतः बुद्धिमान साधक क्या कहेगा? वह कहेगा, 'मैं तुमसे कुछ नहीं चाहता। तुमसे ही सब कुछ मिलता है। तुम्हीं मेरे बन जाओ।' किन्तु किसलिए मेरे बनो? उनकी अर्थात् परम पुरुष की

सेवा के लिए । स्वयं आनन्दित होने के लिए नहीं, बल्कि उन्हें आनन्द देने के लिए । जो इस प्रकार परम पुरुष को आनन्द देना चाहते हैं, वही संस्कृत में 'गोप' कहे जाते हैं । 'गोपायते यः सः गोपः ।' जो मात्र जन-जन को आनन्द देने के लिए कर्तव्यबोध रखते हैं वे ही गोप हैं, न कि वे जो गाय पालते हैं ।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहं ।' 'जो भी मुझसे जो मांगता है, मैं उसे वह देता हूँ । मेरा यह कर्तव्य है । यह तुम पर निर्भर करता है कि तुम अपनी मानसिक वृत्तियों तथा आवश्यकतानुसार मुझसे क्या माँगते हो ।' 'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वशः ।' किन्तु, अर्जुन, एक बात याद रखो, मेरे द्वारा बनाए मार्ग का अन्ततः बिना किसी अपवाद के सबको अनुगमन करना ही होगा । कोई प्रतिसंचर के इस मार्ग की अवहेलना नहीं कर सकेगा और मेरे चारों ओर उसे घूमना ही पड़ेगा—चाहे छोटे किंवा मेरे समीप के व्यासार्थ पर अथवा बड़े किंवा मुझसे दूर के लम्बे व्यासार्थ पर । अन्य कोई विकल्प नहीं है ।

परमाणु संरचना में प्राणकेन्द्र के चारों ओर विद्युतणुओं को घूमना ही पड़ता है । इसी प्रकार, अभिव्यक्त जगत् में प्रत्येक को प्राणकेन्द्र के चारों ओर घूमना ही पड़ेगा । कृष्ण वही प्राणकेन्द्र हैं और यह सब जीव विद्युताणु के समान हैं ।

(पटना, २६ सितम्बर १९७८)

साधुजनों की संगति

जीवन के विधि-निषेधों के विषय में कहा गया है :

“त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमं ।

कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यताम् ॥”

'त्यज दुर्जनसंसर्ग' का तात्पर्य है कि तुम दुर्जनों का साथ छोड़ दो । दुर्जन कौन है ? वह व्यक्ति जो दूसरों को भ्रष्ट बनाता है, अनुचित शिक्षा देता है, वह दुर्जन है । एक आदमी सबके लिए दुर्जन नहीं भी हो सकता है । मान लो 'क' 'ख' के लिए दुर्जन हो सकते हैं किन्तु वह 'ग' के लिए दुर्जन नहीं हो सकते हैं ।

तुम देखोगे कि प्रत्येक और सभी व्यष्टियों में गुण और अवगुण दोनों ही रहते हैं । मान लो श्री 'क' 'ख' के लिए दुर्जन हैं । 'क' के पास गुणों का मान २० है और अवगुणों का मान २५ है तो अवगुणों का शेष मान होगा ५ । श्री 'क' दुर्जन हुए । अब प्रश्न हुआ श्री 'ख' के लिए दुर्जन विशेष क्यों हुए ? 'ख' अच्छे आदमी हैं । उनके गुणों का मान १५ है और अवगुणों का मान १३ है । गुणों का शेष मान होगा २ । वे अच्छे आदमी हुए किन्तु 'क' की तुलना में उनके गुणों का मान मात्र २ है जबकि श्री 'क' के दुर्गुणों का मान ५ है । अतः यदि 'ख' 'क' के सम्पर्क में जायेंगे तो 'ख' भ्रष्ट हो जायेंगे । किन्तु 'ग' के विषय में मान लो कि 'ग' के गुणों का मान ३० है और अवगुणों का मान १५ है तो उनके गुणों का शेष मान १५ होगा । श्री 'क' के दुर्गुणों का मान मात्र ५ है । अतः यदि 'क' 'ग' के सम्पर्क में जायें तो वे अच्छे बन जायेंगे । श्री 'क' 'ग' के लिये दुर्जन नहीं सिद्ध होंगे बल्कि सम्पर्क में जाने से वे ही स्वयं सुधर जायेंगे । अतः यह

दुर्जन होना व्यष्टि व्यष्टि के विषय में भिन्न भिन्न रूपों में माना जायेगा । यह 'दुर्जन' शब्द एक सापेक्ष शब्द है । 'त्यज दुर्जनसंसर्ग' का तात्पर्य हुआ कि तुम उन लोगों की संगति का त्याग करो जो तुम्हारे लिए दुर्जन हैं अर्थात् उनकी संगति का त्याग करो जिनके दुर्गुणों का मान तुम्हारे सदगुणों के मान से अधिक है ।

'भज साधुसमागम' । दुर्जनों का संग त्याग ने के लिए क्या करना चाहिए ? तुम्हें साधुजनों की संगति बढ़ानी चाहिए । किन्तु, हमें जानना होगा कि साधु कौन हैं । साधु का अर्थ है :

“प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।

आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वन्ति साधवः ॥”

केवल भगवा वस्त्र पहनने से मनुष्य साधु नहीं हो जाता । साधु का तात्पर्य अन्दर से साधु होने से है । तुम्हें अन्दर से साधु होना चाहिए, बाहर से भगवा वस्त्र पहनो या नहीं । भारतवर्ष में जो साधु कहे जाते थे वे धवल (सफेद) वस्त्र पहनते थे और 'सन्नयासी' भगवा (गेरुवा) वस्त्र पहनते थे । प्रचलन यह है कि साधु लोग अपने नामों के साथ 'दास' जोड़ते हैं जैसे, गोवर्द्धनदास, यमुनादास, हरिदास आदि । इस प्रकार साधुलोग 'दास' जोड़ते हैं । सन्नयासी अपने नामों के पीछे 'आनन्द' शब्द जोड़ते हैं जैसे, विवेकानन्द, परमानन्द आदि । यह साधुओं और सन्नयासियों में तकनीकी अन्तर है । आनन्दमार्ग में यह लोग सन्नयासी नाम से जाने जाते हैं । अवधूत सन्नयासी हैं । तुमको सर्वदा साधु जनों की संगति को प्रोत्साहन देना चाहिए ।

प्रत्येक और सभी जीवों को अपना व्यष्टिगत जीवन सर्वाधिक प्रिय विषय होता है । हर कोई अपने व्यष्टिगत जीवन को बहुत प्यार करता है । यही नियम है, यही सब जीवों का स्वभाव है, विशेषता है । किन्तु साधु वे हैं, वास्तविक साधु वे ही हैं, जो प्रत्येक जीव की इस भावना को समझते हैं और यह समझते हुए उनसे प्रेम करते हैं कि 'मुझे उन्हें मारना नहीं चाहिए, मुझे उनको कोई कष्ट नहीं देना चाहिए, क्योंकि वे भी अपने जीवन को उतना ही

प्यार करते हैं जितना मैं अपने जीवन को ।' जिनमें इस प्रकार का भावना का अभाव है वे साधु नहीं हैं, वे असाधु हैं । शान्ति का उपदेश देने के साथ साथ चूजों (मुर्गी के बच्चों) को काटना एक साधु के लिए उचित नहीं है क्योंकि जो उन चूजों की हत्या करता है वह अपने जीवन को जितना प्यार करता है वह चूजा, मुर्गी का बच्चा, भी अपने जीवन को प्यार करता है । प्रेम के इस शाश्वत भाव का जिसमें अभाव है वह साधु नहीं है । साधु को निरामिषभोजी होना ही है ।

'भज साधुसमागम' । तुम्हें साधु संग को प्रोत्साहन देना चाहिए । साधु की व्याख्या है, जो जीवन के सभी स्तरों में उन्नति कराता है अर्थात् जो सबको उनके भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होता है वही साधु है । तुम्हारे लिए साधु वही है जिसमें तुम्हारे अनुपात में सदगुणों के शेष मान विन्दु अधिक हैं । यह दुर्जनों की व्याख्या के समान ही होगा । मान लो तुममें सदगुणों के शेष मान विन्दु ४५ हैं और एक दूसरे व्यष्टि में सदगुणों के शेष मान विन्दु ६० हैं तो जिसके ६० शेष सदगुण मान विन्दु हैं वह तुम्हारे लिए साधु होगा । यह भी एक सापेक्ष शब्द है । अपने जीवन के क्षण का उपयोग साधुजनों की संगति में करो ।

'कुरु पुण्यं अहोरात्रं ।' रात दिन तुम्हें पुण्य कार्य में लीन रहना चाहिए । अहोरात्र का अर्थ है २४ घण्टे, एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक । पाश्चात्य गणना सिद्धान्त के अनुसार एक दिन मध्यरात्रि से दूसरी मध्य रात्रि तक होता है । पौराणिक गणना के अनुसार अर्थात् एशिया में एक दिन प्रातः से दूसरे दिन प्रातः तक होता है । भारतवर्ष में एक अहोरात्र का अर्थ होता है सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक । यही व्यवस्था है ।

दिन या 'अहः' का अर्थ है सूर्योदय से सूर्यास्त तक, 'रात्रि' का तात्पर्य है सूर्यास्त से सूर्योदय तक अर्थात् रात्रि का भाग । तुम्हें दिन रात पुण्य कर्म में लगे रहना चाहिए, अर्थात् सूर्योदय से सूर्योदय तक । पुण्य क्या है ?

“अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥”

व्यासदेव ने अनेक पुराणों की रचना की । जब तुम सेवा कार्य में लगे हो तो तुम पुण्य कर रहे हो । जब तुम जनहित कि विरुद्ध काम कर रहे हो तो तुम पाप कर रहे हो । चौबीस घण्टे दिन रात सूर्योदय से सूर्योदय तक पुण्य कार्य में लगे रहो । प्रश्न उठता है कि कोई सोते समय भी पुण्य कैसे करता रह सकेगा ? जागने की स्थिति में यदि कोई सतत् पुण्य कर्म में लगा रहे तो सोने के समय क्या होगा ? जनहित में प्रतिष्ठा ही शान्ति में प्रतिष्ठा है—जनहित की संघटना ही शान्ति की संघटना है । उस अवस्था में सोते समय भी वह पुण्य कार्य में संलग्न होगा । इस प्रकार सूर्योदय से सूर्योदय तक दिन और रात पुण्य कर्म में जुटे रहो ।

संस्कृत में सम्पूर्ण साहित्य चार भागों में बँटा हुआ है । एक है ‘काव्य’, दूसरा है ‘इतिकथा’, तीसरा है ‘इतिहास’ और चौथा है ‘पुराण’ । ‘काव्य’ है ‘वाक्यं रसात्मकं ।’ जब एक कहानी ललित ढंग से कही गई तो यह हुआ ‘काव्य’ । इतिकथा है घटित घटनाओं का यथातथ्य वर्णन अर्थात् वह विवरण जो तथ्यपरक है, इतिकथा कहा जायेगा । ‘इतिहास’ तथ्यात्मक विवरण का वह अंश है जिसका तुम्हारे जीवन में उन्नति के लिए शिक्षापरक महत्त्व है । ‘इतिकथा’ का वैसा अंशविशेष ही ‘इतिहास’ कहा जाता है । ‘इतिकथा’ का अंग्रेजी शब्द ‘हिस्ट्री’ है । फारसी भाषा में उसे ‘एस्तोयार’ कहते हैं । किन्तु ‘इतिहास’ के लिए कोई शब्द अंग्रेजी में नहीं है । अन्तिम भाग है ‘पुराण’ । पुराण तथ्यात्मक नहीं है, तथ्यपरक विवरण बिल्कुल ही नहीं है, बल्कि कहानियाँ हैं । इन कहानियों का शिक्षाप्रद महत्त्व है । यह कथाएँ तुम्हें तुम्हारी भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति में सहायता देती हैं । रामायण पुराण है, महाभारत इतिहास है और तथाकथित इतिहास जो विद्यालयों में पढ़ाया जाता है वह है इतिकथा । वास्तव में ‘इतिहास’ आजकल विद्यालयों या महाविद्यालयों में नहीं पढ़ाया जाता है ।

पुराण अवश्य ही कहानियाँ हैं, जैसा मैंने बताया, किन्तु उनका शिक्षाप्रद मूल्य है । व्यासदेव ने अठारह पुराण लिखा है । उन सब का मुख्य विचार केन्द्र क्या है ? उन्होंने इतने सारे पुराण क्यों लिखा ? उनका उद्देश्य था संसार को बताना कि पुण्य का तात्पर्य है लोगों के चतुर्दिक विकास में योगदान और पाप है लोगों को पतनोन्मुख बनाना, लोगों को जीवन के विविध या सभी क्षेत्रों में दिग्भ्रमित करना । यहाँ उसी अर्थ में ‘पुण्य’ शब्द का प्रयोग किया गया है । तुम्हें पुण्यकर्म में, दूसरों की सहायता में, चौबीसों घण्टे लगे रहना होगा ।

‘स्मर नित्यं अनित्यतां’ । तुम्हें सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि तुम जिस संसार में हो वह चलित चित्रावली है, क्षण क्षण परिवर्तित दृश्यावली है । कोई भी चित्र, कोई भी स्थिति या कोई भी अवस्थिति (स्टान्स) जैसी वर्तमान में है, वैसी भविष्य में रहेगी नहीं । अर्थात् प्रत्येक वस्तु बदल जायेगी, प्रत्येक वस्तु का परिवर्तन होना है, और तुम्हें उस परिवर्तन को स्वीकारने के लिए अपने को परिवर्तन की उन स्थितियों से सन्तुलित रखने के लिए, सदा तैयार रहना चाहिए ।

(पटना, २७ सितम्बर १९७८)

अणु और भूमा

अणु और भूमा में मूल अन्तर कहां है ? कहा गया है :

“तयोर्विरोधेऽप्यमुपाधिकल्पितो न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेषः ।

ईशाद्यमाया महदादिकारणं जीवस्य कार्यं शृणु पञ्चकोशम् ॥”

मूल अन्तर किन्हीं विशेष गुणगत क्षेत्रों में ही होता है अर्थात् अन्तर गुणों में है, और वह गुणगत पार्थक्य भी स्थायी प्रकार के नहीं हैं, वे सभी अस्थायी स्वभाव के हैं। वे आज रह सकते हैं कल पार्थक्य नहीं रह सकते हैं। ‘ईशाद्य माया महदादिकारणं ।’ यह गुणगत पार्थक्य अस्थायी हैं, आज हैं, कल रह भी सकते हैं, नहीं भी रह सकते हैं, तात्पर्य यही है। यह भी कहा गया :

‘पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तो भवेच्छिवः ।’

जब वे पाशों के बन्धन में हैं वे ‘जीव’ अथवा ‘अणु’ हैं, जब वे बन्धन (पाश) में नहीं रहते तो वे ‘शिव’ अथवा भूमा हैं, शिव से एकाकार हो जाते हैं।

‘न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेषः ।’ भूमा चैतन्य पर प्रकृति की बन्धनी शक्ति के कारण उसके प्रभाव वश क्या होता है ? यह पाञ्चभौतिक जगत प्राप्त होता है, हम यह भौतिक जगत पाते हैं, मानसिक जगत पाते हैं और पाते हैं भूमा चैतन्य का विविध अभिप्रकाश। ‘जीवस्य कार्यं शृणु पञ्चकोशः’ जीव किंवा अणुचैतन्य अर्थात् गुणगत अणुचेतना पञ्चकोशात्मक देह पाता है। पञ्चकोशात्मक देह अर्थात् यह छोटा सा भौतिक देह, स्थूल मन, काममय कोश, मनोमय कोश, अतिमानस कोश और अनेक कोश। यही अन्तर है। अतः यह छोटा सा शरीर, इसमें छोटा सा मन जीव के बनने की प्रतिक्रिया

बीजों से निर्मित विभिन्न स्तरों का होता है अर्थात् अणुचैतन्य के संस्कारानुयायो यह देह और मन बनता है। यही अन्तर है। अर्थात् गुणाबन्धन के ही परिणामस्वरूप एक जीव अणु है और दूसरा भूमा।

अणुसत्ता के सम्बन्ध में कहा गया है : ‘यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।’ सभी अपनी इच्छाओं के अनुसार फल प्राप्त करते हैं। यदि कोई उदरपिशाच (बोरेशस ईटर) है और सदैव भोजन के लिए ललचाता रहता है तो यह बहुत सम्भव है कि उसके देहान्त होने पर अगले जन्म में उसे शूकर का देह मिले। मान लो कोई हिरण के समान द्रुत धावक बनना चाहता है तो यह असम्भव नहीं होगा यदि उसे इस मानव संरचना के नष्ट होने पर हिरण की देह प्राप्त हो।

भूमा का भुवन बहुत बृहत् है-हम इसे ब्रह्माण्ड कहते हैं और अणु का संसार तो बस उसकी यह छोटी सी भौतिक देह ही है और यह देह बनाया गया है उसकी पूर्ववर्ती इच्छाओं और प्रतिक्रियात्मक बीजों (संस्कार) के अनुसार। जैसे उसकी चाह थी हिरण के समान दौड़ने की तो उसे मिली हिरण की देह। यही है वह रूपहली रेखा अणु और भूमा के बीच। तो क्या करना चाहिए हमें ?

“एतावुपाधि परा जीवयोस्तयो सम्यग् निरासेन परो न जीवः ।

राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटकस्तयो रपोहेन भटः न राजा ॥”

यदि परम पुरुष किंवा शिव से गुणात्मक भूमा (भाव चेतना) को हटा लिया जाय और जीव से गुणात्मक अणुचेतना भाव को हटा लिया जाय तो उन दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। जीव शिव बन जायेगा और शिव जीव बन जायेगा, कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। यह कहा गया है कि ‘एतावुपाधि परा जीवयोस्तयो’। अस्तु, यदि यह गुणात्मक अन्तर जो ‘पर’ अर्थात् परम पुरुष और जीव में है उसे हटा लिया जाय तो क्या होगा ? तो, रह जायेगा न जीव न परम पुरुष, न बृहत् परम पुरुष न लघु जीव। वे दोनों एक हो जायेगे।

यदि एक मनुष्य 'क' को राज्य दे दिया जाय, जो (राज्य) एक गुणात्मक विषय है, तो लोग कहेंगे कि वह 'राजा' है क्योंकि उसके साथ राज्य नामात्मक गुण जोड़ दिया गया है। एक आदमी 'ख' जो गदा मुद्गर लिए है उसे कहेंगे, पहलवान। वह गदा मुद्गर के गुणात्मक विषय से विभूषित होने के कारण ही पहलवान कहा जायेगा। यदि हम उस 'क' आदमी से राज्य और 'ख' से उसका गदा मुद्गर नाम के प्रतीकों को हटा लें तो वे न राजा रह जायेंगे न पहलवान। 'क' और 'ख' दोनों ही सामान्य मनुष्य रह जायेंगे। इसी प्रकार यदि 'पर' गुणरहित हो जायें और 'जीव' भी गुण रहित हो जायें तो वे दोनों ही परमशिव हो जायेंगे। आध्यात्मिक साधना क्या है? साधना है गुणान्वित करने वाले बन्धनों को हटा देना। साधना का तात्पर्य यही है।

(पटना, २८ सितम्बर १९७८)

चित्तिशक्ति की भूमिका

चित्तिशक्ति ही है परम विषयी (सुप्रीम सब्जेक्टिविटी) और अन्य सभी सत्तायें (एन्टिटीज) 'उनके' विषय (आब्जेक्ट्स) हैं। उनके लिए कुछ भी गोपन, अज्ञात अथवा अदेखा नहीं रहता है। तुम उनसे छिपाकर कुछ भी नहीं कर सकते हो। यहाँ तक कि उनसे छिपाकर कुछ सोच भी नहीं सकते हो। और जैसा तुमको ज्ञात है मनुष्य की साधना विद्युताणुगत अपूर्णता से हरि नाभिक (न्यूक्लियस) पूर्णता की ओर गतिशीलता है। इस विश्व की सभी कुछ, प्रत्येक चीज, और चीजें 'उनके' चारों ओर ठीक उसी तरह घूम रही हैं जैसे कि भौतिक संरचना के नाभिकेन्द्र के चारों ओर घूमते हैं। विद्युताणु (इलेक्ट्रान)। एक बड़ा हाथी (ऐरावत) हो अथवा छोटी चींटी 'उनके' लिए कोई अन्तर नहीं रखते। सभी उनकी प्रिय सन्तान हैं।

“समप्लुषिना सम मशकेन सम नागेन सम एभिस्त्रिभिलोकैः ॥”

'समप्लुषिना'-तुम कह सकते हो कि यह कीड़ा बहुत छोटा है। यह प्लुषिन है, अर्थात् 'दीमक' (व्हाइट आंट) है एक तुच्छ प्राणी है, और 'मसक' अर्थात् मच्छर भी, किन्तु, परमपुरुष के मन में वही अनुशक्ति है, वही आकर्षण है और वही महत्व है। 'समनागेन', नाग के लिए जैसा है। 'नाग' का अर्थ क्या है? संस्कृत में 'नाग' का तीन अर्थ हैं। एक अर्थ है अजगर, दूसरा अर्थ है ऐरावत विशालकाय हाथी (मैमॉथ) तीसरा है पर्वत, अनेक अर्थ हैं। उनका प्रेम सब पर समान है।

'सम एभिस्त्रिभिलोकैः'-अर्थात् वही महत्व, वही प्रेम, वही अनुशक्ति, समस्त त्रिभुवन के लिए है। त्रिभुवन का अर्थ है यह अभिव्यक्त संसार, मनोजगत्, सूक्ष्म संसार अथवा कहे कारण जगत् के प्रति भी।

वे सब कुछ देखते हैं। वे सब कुछ का अनुभव करते हैं। कुछ भी उनसे अदेखा नहीं रहता, अनुभूत नहीं रहता। उनकी स्थिति नाटक होते समय प्रयुक्त गुप्त प्रकाश (क्लेन्डेस्टाइन लाइट) के समान होती है, जब उसका फोकस (संकेन्द्रण) रंगमञ्च पर होता है तो तुम वहाँ बहुत कुछ घटित होते देखोगे, अभिनेता अभिनय कर रहा है, नर्तक नृत्य कर रहा है, बहुत कुछ हो रहा है और वह गुप्त प्रकाश सब कुछ देख रहा है जो भी हो रहा है। इसी प्रकार तुम जो भी करते हो, जो भी सोचते हो, जो भी गन्ध लेते हो और जो भी स्वाद लेते हो सब कुछ परम पुरुष देखते हैं। जब रंगमञ्च पर कुछ भी नहीं होता है अर्थात् जब न अभिनेता अभिनय करता है, न नर्तक नृत्य करता है, न गायक गीत गाता है, तब भी वह गुप्त प्रकाश रंगमञ्च की शून्यता भी देखता है वह यह भी देखता है कि रंगमञ्च पर कुछ हो नहीं रहा है। इसी प्रकार जब तुम कुछ नहीं करते रहते हो, जब तुम अपने कारण शरीर में अथवा अपने सामान्य शरीर में निलम्बित हो, तब भी तुम्हारी उस स्थिति को भी परम पुरुष देखते रहते हैं। इसी प्रकार जब तुम कुछ कर सकने की, सोच सकने की, गन्ध अथवा स्वाद लेने की स्थिति में नहीं हो, तब भी वे उस अवस्था को भी देखते हैं। अतः वे तुमसे और तुम उनसे घनिष्ठ रूप में सम्पर्कित हो।

तुम कभी भी असहाय नहीं हो, कभी अकेले नहीं हो। तुम सर्वदा परम पुरुष के साथ हो, इसलिए तुम अपने में निराशावादिता को अथवा हीनमन्यता को प्रश्रय मत दो।

(पटना, १९ सितम्बर १९७८)

आगम और निगम

“आत्मज्ञानमिदं देवि परं मोक्षैकसाधनम् ।

सुकृतेर्मानवो भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥”

तुम जानते हो कि तन्त्रशास्त्र की दो शाखायें हैं। एक शाखा आगम कही जाती है और दूसरी निगम कही जाती है। तन्त्र शब्द के भी दो अर्थ हैं अर्थात् दो व्युत्पत्तिगत अर्थ हैं। एक अर्थ है, ‘तम् जाड्यात् तारयेत् यस्तु सः तन्त्रः परिकीर्तितः’। ‘त’ का अर्थ है अनुद्योगिता, आलसीपन और ‘त्र’ का अर्थ है ‘मुक्त करने वाला’। जो तुम्हें आध्यात्मिक उद्योगहीनता से, आध्यात्मिक आलस्य से मुक्त करता है वहीं तन्त्र है।

तन्त्र का दूसरा अर्थ इस प्रकार है—‘तन्’ संस्कृत में एक मूल धातु है जिसका अर्थ होता है विस्तार करना और ‘त्र’ का अर्थ है ‘मुक्त करने वाला’। मूल धातु त्रै + ड प्रत्यय = त्र। इसका अर्थ है मुक्तिदायक। ‘त्रै’ का अर्थ है मुक्त करना। अतः तन्त्र का अर्थ हुआ वह विज्ञान जो तुम्हारे चतुर्दिक विकास की सम्भावना का पथ प्रशस्त करे। तन्त्र विस्तार का मार्ग है।

एक छोटे लड़के का देह प्रतिदिन, प्रति सप्ताह विकास करता है। इसीलिए मनुष्य की देह ३९ वर्ष तक ‘तनु’ कही जाती है। संस्कृत में ‘तनु’ का अर्थ है ‘विकासमान’। ३९ वर्षों के बाद मनुष्य की देह को ‘शरीर’ कहते हैं। ‘शरीर’ का अर्थ है जो क्षय प्राप्त कर रहा (शीर्ण) है।

तन्त्र की दो शाखायें हैं— एक ‘आगम’ और दूसरी ‘निगम’। ‘आ’-गम्+अल्=आगम और नि-गम्+अल्=निगम।

“आगतं शिववक्त्रेभ्यः गतं च गिरिजाश्रुतौ ।

मतं च वासुदेवस्य तस्मात् आगम उच्यते ॥

पार्वती ने शिव से प्रश्न किया, 'आध्यात्मिक साधक के लिए न्यूनतम योग्यताये क्या हैं ?' शिव का उत्तर था, 'आध्यात्मिक साधक के लिए न्यूनतम योग्यता है एक मानव देह का होना।' प्रत्येक और सभी मनुष्यों के पास मानव देह तो है ही, अतः सभी मनुष्य इस न्यूनतम योग्यता की अपेक्षा पूरी कर सकते हैं।

भगवान् शिव कहते हैं, 'आत्मज्ञानमिदं परं मौक्षैकसाधनं।' जब भी कोई आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है, अर्थात् जब वह अपने को जान लेता है, जानने का अवसर प्राप्त कर लेता है तो क्या होता है ? उसे 'मोक्ष' मिल जाता है। और इस उद्देश्य के लिए, अर्थात्, स्वयं को जानने के लिए, न्यूनतम योग्यता है 'सुकृतेर्मानवो भूत्वा।' प्रतिसंचर के क्रम में कई जनमों तक इस योग्यता को पूरा कर पाता है। 'सुकृतेर्मानवो भूत्वा'—प्रतिसंचर धारा में अनेकानेक घातों-प्रतिघातों के मध्य से गुजर कर मानव देह मिलता है और यह भी कि अनेकों पशुओं के रूपों से होते हुए अनेकों घातों प्रतिघातों को सहने से ही मनुष्य 'आध्यात्म साधक' बनता है। जब तक कोई पशु देह में है वह आध्यात्मिक साधना नहीं कर सकता है। मनुष्य देह प्राप्त होने पर भी यदि वह उस देह का उपयोग आध्यात्मिक साधना के लिए नहीं करता है तो वह निश्चय ही मूर्ख है क्योंकि वह उस प्राप्त क्षमता का उपयोग नहीं कर रहा है।

जब मनुष्य ज्ञानी हो जाता है तब मोक्ष प्राप्त कर लेता है। प्रथम भाग में कहा गया 'आत्मज्ञानम्' और अन्तिम भाग में कहा गया है, 'ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात्।' आत्मज्ञान ही ज्ञान है। आत्मज्ञान क्या है ? स्वयं को जानना क्या है ? आत्मानुभव (सेल्फ-रियेलाइजेशन) क्या है ? प्रत्येक और सभी जीवों का सहज अभ्यास (वोण्ड) है कि वे दूसरों को देखते हैं, स्वयं को नहीं देखते। अर्थात् जब कभी कोई (द्रष्टाभाव विषयी अस्तित्व) में होता है तो वह अपने 'स्व' को विषय नहीं बनाता है। उसका विषयी अस्तित्व (द्रष्टाभाव) कभी विषय (दृश्य) से एकात्म नहीं होता और यही है दुर्बलता। तुम बहुत

सारा विषय जानना चाहते हो किन्तु स्वयं को नहीं जानना चाहते हो। तुम्हारा 'स्व' तुम्हारी निकटतम सत्ता है किन्तु तुम उसे नहीं जानना चाहते हो। यही दुःख है, यही कष्ट है। 'आत्मज्ञानम्' विषयरहित अवस्था है, स्वयं को स्वयं के अन्दर देखना और अपनी (विषय सत्ता) दृष्टिशक्ति किंवा मानसिक शक्ति को किसी विषय की ओर संचालित नहीं करना। तुम्हारे पास अनेकानेक मानसिक शक्तियाँ हैं, तुम्हारे पास अनेकानेक विषयी शक्तियाँ (दृष्टि शक्तियाँ) हैं किन्तु तुम सदैव अपनी विषयी शक्तियों और मानसिक शक्तियों को दूसरे विषयों की ओर ही संचालित करते रहते हो। यदि तुम अपनी सभी मानसिक और विषयी शक्तियों को अपने 'स्व' से शान्त होकर बिना बाह्य विषयों से नाता रखे, जोड़ सको तो वही निरपेक्ष अवस्था 'आत्मज्ञान' की अवस्था होगी। यही वास्तविक ज्ञान है, क्योंकि शेष ज्ञान तो सापेक्षता से प्रदूषित होते हैं। यही ज्ञान अनन्वित प्रकृति का परम ज्ञान है, जो किसी दूसरी विषयसत्ता से प्रतिबद्ध नहीं है।

इस आत्मज्ञान को पाने के लिए ढेर सारी पुस्तकें पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हें इस आत्मज्ञान को प्राप्त करने के लिए तीव्र इच्छा पैदा करना होगा और उस परम सत्ता परम पुरुष के प्रति प्रेम पैदा करनी होगी। यही साधना है और यही प्रक्रिया है जिसके द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करके मुक्ति लाभ होता है। यही शिव का उत्तर है। अतः इसे ही 'आगम' मानना चाहिए।

(पटना, ३० सितम्बर १९७८)

**End of
Ananda Vacanamrtam part 2**

**Scan AV 1 & 2 (H) 1995 Edn
(made from Hindi AV 1 - 3 book)**